प्रताप-प्रतिज्ञा

[ऐतिहासिक नाटक]

मिलिन्द

प्रताप-प्रतिज्ञा

[ऐतिहासिक नाटक]

लेखक

जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

जालन्धर और इलाहाबाद

दसवाँ संस्करण] [मूल्य १)

पात्र-सूची

प्रतापसिह	...	मेवाड़ के राणा
जगमल	...	मेवाड़ का भूतपूर्व राणा, प्रताप का सौतेला भाई
शक्तसिंह	...	प्रताप का भाई
अमरसिह	...	प्रताप का ज्येष्ठ पुत्र
सामंत	...	प्रताप का मंत्री
पुरोहित	...	प्रताप का गुरु
भीलराज	...	प्रताप का सहायक, भीलों का राजा
भामाशाह	...	मेवाड़ का भूतपूर्व नगर-सेठ
चन्द्रावत	...	मेवाड़ का प्रजा-प्रतिनिधि
विजयसिंह	...	चन्द्रावत का अल्पवयस्क पुत्र
अकबर	...	मुग़ल-सम्राट्
मानसिंह	...	मुग़ल-सेनापति
पृथ्वीसिंह	...	मुग़ल दरबार के राजपूत राजकवि
गंगासिंह मदारखाँ	} ...	पृथ्वीसिंह के शिष्य

प्रताप-प्रतिज्ञा

(ऐतिहासिक नाटक)

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—उदयपुर, राणा जगमल का विलास-भवन ।

समय—रात्रि का प्रथम प्रहर ।

[जगमल अर्धशयित अवस्था में । कुछ चुने हुए सभासद । विलास सामग्रियाँ । नेपथ्य से रंगशाला के संगीत की मधुर ध्वनि आ रही है ।]

(गान)

तेरे मद में झूमें प्राण !
ओ सुन्दर ! स्वाधीनों के सुख !
'पगलों' के अभिमान !
कुसुमों में खुलकर खिलती है
तेरी ही मुसकान ।
सागर की लहरों में नर्तन,
मुक्त पवन में गान ।

विरले मतवाले करते हैं,
तेरे मधु का पान।
तेरे मद में झूमें प्राण।

(गान धीरे-धीरे बंद हो जाता है।)

जगमल—ऐं! यह क्या! गान बंद हो गया! इतनी जल्दी! अभी तो रात का आरंभ ही हुआ है। ये लोग भी कभी तमीज़ सीखेंगे! एक तो गाना ही बढ़िया चुना था, उस पर यह जल्द-बाज़ी! आजकल इन दो कौड़ी के चारणों का दिमाग भी आसमान-पर चढ़ गया है। हूँ! मैं सब समझ रहा हूँ! यह सब उसी उद्दंड की करतूत है! गायकों तक को बहका दिया!

एक सभासद्—क्या पृथ्वीनाथ उस चंद्रावत कृष्ण की बात कर रहे हैं?

जगमल—हाँ, वही तो! वह चंद्रावत का बच्चा आजकल मेरी भोली-भाली प्रजा में न-जाने क्या-क्या और कैसे-कैसे भाव भर रहा है! कभी कहता है, "राजा प्रजा का सेवक है—दास है।" कभी कहता है, "प्रजा उसकी अन्नदाता है। वह उसे गद्दी पर चढ़ा भी सकती है, उतार भी सकती है; बना भी सकती है, बिगाड़ भी सकती है। प्रजा की आँखों के इशारों ही पर बड़े-बड़े साम्राज्य उठते और मिट जाते हैं।" हः हः! कैसी मूर्खता की बात है! कहीं फूँक से भी पहाड़ उड़ा करते हैं! हर-एक समझदार आदमी-के मन में इसपर सैकड़ों शंकाएँ उठ सकती हैं। एक तो यही कि···

एक सभा०—कि प्रजा को चढ़ाने का अधिकार हो तो हुआ करे, पर उतारने का अधिकार हो ही कैसे सकता है?

दूसरा सभा०—और एक यह कि उस अधिकार के विषय में अन्नदाता ने प्रजा को पट्टा लिखा ही कब था ?

तीसरा सभा०—और एक यह कि प्रजा के लिए ईश्वर ने यह धन, यह बल और यह महल बना ही कब रखा था ?

जग०—और सबसे बड़ी बात तो यह है कि राजा राजा है और प्रजा प्रजा। भला, इन दोनों की बराबरी हो ही कैसे सकती है ?

सब—हो ही कैसे सकती है ? हो ही कैसे सकती है ?

जग०—अच्छा, यह सब तो पीछे होता रहेगा, पहले एक गान और हो जाय—ज़रा बढ़िया-सा ! जाओ तो कोई ! रंगशालावालों-को गाने का हुक्म दो।

(एक सभासद जाने लगता है।)

जग०—(रोक कर) सुनो तो ! इस बार हमारे उन नए ख़ास गायकों का गान होना चाहिए। पुरानों का दिमाग़ तो आजकल कुछ ठिकाने पर नहीं मालूम होता।

(सभासद का प्रस्थान।)

(कुछ देर बाद नेपथ्य में गान।)

हीरों के जगमग प्यालों में
　　पी जाओ, आओ, आओ भी !
आते-आते इन लालों—से
　　ओठों में कुछ मुसकाओ भी !
ठहरो, ठहरो, तरसाओ भी,
　　रुलवाओ भी, कलपाओ भी।

खेलो यौवन की साधों से,

ठुकराओ भी, ललचाओ भी !

हीरों के जगमग प्यालों में,

पी जाओ, आओ, आओ भी !

(धीरे-धीरे गान बंद हो जाता है ।)

जग०—वाह, वाह ! इसे कहते हैं गान ! क्या मद से भी मीठा स्वर है ! सुनते-सुनते मस्ती के मारे आँखें बंद हो जाती हैं !

(सहसा चंद्रावत का प्रवेश ।)

चंद्रावत—निःसंदेह, यह विलासिता का अंधकार प्रजा के पहरेदारों की आँखें सदा के लिए बंद कर देता है । मदांध मुकुटधारी ! होश में आओ । तुम्हारी इस काल-रात्रि का अंत अब निकट है । प्रभात के सूर्य की किरणें जाग्रति की बिजली बनकर जनता के प्राणों-को छुआ ही चाहती हैं । मेवाड़ के कोने-कोने से स्वाधीनता का जीवन-संगीत फूट रहा है । देख लो, आँखें फाड़-फाड़ कर देख लो ! सुन लो, कान खोलकर सुन लो !

(सब चौकन्ने होकर एक-दूसरे का मुँह देखते हैं ।)

चंद्रावत—सुख और सौंदर्य की गोद में पलने वाले राणा ! सुन लो ! मैं आज जनता के प्रतिनिधि की हैसियत से तुम्हारे सम्मुख आया हूँ । मुझे अधिकार दिया गया है कि मैं मेवाड़ के राजमुकुट को अयोग्य के सिर से उतार कर योग्य के मस्तक पर रखूँ !

(जगमल हाथ से मुकुट सँभालता है । सभासद भयभीत ।)

चंद्रावत—अत्याचारी, विलासी राजा ! तुम्हें क्या अधिकार है

इस पवित्र राजचिह्न को अपने पाप-पंक से कलंकित करने का, वीर पूर्वजों के इस पुण्य-प्रासाद को विलासिता की दुर्गंध से भर देने का, शूरों के हृदय-रक्त से सिंची हुई इस भवानी—तलवार को अपने अपवित्र स्पर्श से दूषित करने का, मातृभूमि मेवाड़ के उज्ज्वल वक्षःस्थल-पर वासनाओं का नग्न-नृत्य देखने का ?

(सभा में सन्नाटा । जगमल सिर झुका लेता है ।)

चंद्रावत—बोलो ! उत्तर दो ! मौन क्यों हो ? सिर क्यों झुका रहे हो ? मदांध शासक ! तुम्हें विदित नहीं है, आज तुम्हारी सत्ता-के तीनों प्रमुख आधार—सैनिक, श्रमिक और कृषक—तुम्हारी अकर्मण्यता को वीरभूमि मेवाड़ का अपमान समझते हैं ! वे तुमसे असन्तुष्ट हैं, समझे राजा, वे तुम्हें नहीं चाहते ! ज़रा आँखें खोलकर इन विलास-सामग्रियों की ओर देखो ! क्या ये वीरों के भूषण हैं ! दूषण हैं, घृणित हैं, लज्जास्पद हैं ! मेवाड़ के वीर, प्राणों का भय छोड़कर इन पर घृणा की ठोकर मारते हैं !

(विलास-वस्तुओं को ठुकराता है । उनमें कई चूर चूर हो जाती हैं ।)

चंद्रावत—विलासी वीर नहीं हो सकता और वीर विलासी ! पंक क्षीर नहीं हो सकता और क्षीर पंक ! उदयपुर के प्रासादों में विहार करने वाले क्षुद्र कीट ! क्या तुम्हारे हाथों चित्तोड़ का उद्धार संभव है ?

(जगमल विचार-मग्न ।)

चंद्रावत—क्या अत्याचारियों के उन्मत्त मस्तक छिन्न करने की शक्ति भीरु राणा के कंपित करों में है ? क्या ये मदांध आँखें माँ की दुर्दशा देख सकती हैं ? क्या ये बहरे कान माँ का रुदन सुन सकते

हैं ? सावधान ! रक्तांबर-धारिणी स्वाधीनता आज मेवाड़ के प्राणों में सहसा जाग उठी है।

(जगमल चौंक कर सिर उठाता है।)

चंद्रावत—वह आज तुम्हें ललकार रही है ! बोलो ! उत्तर दो ! मौन क्यों हो ?

जग०—क्या कहूँ, कृष्ण जी ! तुम सत्य कहते हो ! चाटुकारों-की मादक रागिनी में मैं अपना जीवन-संगीत खो बैठा ! जाग्रति के दूत ! कहो, कुछ और कहो ! तुम्हारी भर्त्सना में ममता का आभास मिलता है, तुम्हारे उपदेशों में जीवन का संगीत मिलता है ! नया नहीं है यह गीत ! याद आता है, इसे कभी सुना था ! मृत्यु की ओर ले जाने वाली इन मधुर रागिनियों में, सत्य का, न्याय का, जीवन-का, अमरता का तीखा स्वर गुँजानेवाले महात्मा ! मुझे जगा रहे हो! जागाओ, हाँ जगाओ, और गाओ, अपना भैरव राग और गाओ !

(तन्मय हो जाता है।)

चंद्रावत—(स्वगत) अभिमानी राजा के गर्वोन्नत मस्तक से बलपूर्वक मेवाड़ का मुकुट छीन लेने का मेरा अधिकार आज इस नत-मस्तक मनुष्य के प्रति विनय बन रहा है । (प्रकट) राणा ! मैं आपसे न्याय की आशा करता हूँ । जनता का प्रतिनिधि आज आपसे प्रताप के लिए यह राज-मुकुट चाहता है, राजस्थान की लाज रखने के लिए, मेवाड़ के हित के लिए, चित्तौड़ के उद्धार के लिए ! कहिए, देंगे ? हृदय में इस त्याग का ज्वलन्त प्रकाश सँभाल सकेंगे ? बाप्पा रावल के तपस्वी वंशजों के नाम पर यह बलिदान कर सकेंगे ?

जगमल—क्यों न करूँगा कृष्णजी, क्यों न करूँगा ! जगाकर फिर सुलाना चाहते हो क्या ? मैं सब समझ रहा हूँ । आज मेरी आँखों के आगे से मानो एक गहरा अंधकार धीरे-धीरे सरक रहा है ! सच कहते हो वीर, मुझे इस वीर-भूमि पर अपना पैशाचिक शासन चलाने का कुछ अधिकार नहीं है, सचमुच, कुछ अधिकार नहीं है ! आज भाग्य से तुम मेरे दर्पण बनकर आए हो ! तुम्हें सम्मुख पाकर भी क्या मैं अपना असली रूप न देख पाऊँगा ? दूँगा, यह मुकुट अवश्य दूँगा । और वह भी किस के लिए ? प्रताप ! प्रताप मेरा भाई है—न, न, यह हृदय की दुर्बलता है—वास्तव में प्रताप वीर है, कर्तव्यशील है, त्यागी है और है तपस्वी ! हाय रे अभागे हृदय, उसे पहचान कर भी न पहचान पाया था ! अच्छा, यह लो ! प्रजा के प्रतिनिधि, बहुत हो चुका ! अब यह अन्याय न होगा ! वीरों के राजमुकुट पर मोहांधों का कोई अधिकार नहीं, विलासियों का कोई स्वत्व नहीं ! मैं आत्मसमर्पण करता हूँ ।

(मुकुट और तलवार देता है ।)

चंद्रावत—देव ! जो निर्मल होते हैं, उनका पतन भी सुहावना होता है और जब वे उठते हैं तब उनकी आत्मा के उत्कर्ष के आगे हिमालय भी सिर झुका लेता है । मेवाड़ के वीर रक्त का यह उबाल, जितना धन्य है, उससे कहीं अधिक स्वाभाविक है । आज, बरसों बाद, सोना मिट्टी से बाहर निकला है । देख, जननी, जन्मभूमि, प्यारी माँ, मेवाड़, देख ! आज तेरे सपूतों में उदारता है, न्याय है, सत्य है और है त्याग !

(पट-परिवर्तन ।)

दूसरा दृश्य

स्थान—उदयपुर, प्रताप का घर।

समय—प्रभात।

(विचार-मग्न प्रताप। सहसा सामंत का प्रवेश।)

सामंत—राणा!

प्रताप—(चौंककर) कौन? सामंतजी! कहिए, क्या संवाद है?

सामंत—क्या कहूँ? बस अब नहीं देखा जाता! जी चाहता है, जन्म-जन्मान्तर के लिए आँखें मूँद लूँ!

प्रताप—क्यों-क्यों, क्या कोई विशेष घटना.........

सामंत—नहीं राणा, यही नित्य की दुर्दशा प्रतिदिन नई मालूम होती है, काँटे की तरह इसकी कसक पल-पल पर अपरिचित-सी, नवीन-सी जान पड़ती है।

प्रताप—राजमहल का कोई विशेष संवाद है?

सामंत—राजमहल? उसे राजमहल न कहो राणा, उसके वक्षःस्थल पर वासनाओं का वह अविराम तांडव देखकर भी क्या उसे पिशाचपुरी न कहना चाहिए? देखते नहीं हो राणा, आज बाप्पा रावल का वह उज्ज्वल राज-मुकुट कायरता के कलंक से काला हो रहा है, मख़मली म्यान में भुवन-विजयी वीरों की करारी कटार पर ज़ंग चढ़ रहा है! क्या ये सब चुप-चाप सह लेने की बातें हैं? देव,

उस दिन का अमर इतिहास क्या सहज ही भुलाया जा सकता है, जब······(कंठावरोध।)

प्रताप—हाँ-हाँ, कहो भाई, जब···

सामंत—जब स्वाधीनता की आराध्य देवी, स्वच्छन्द वायु के झकोरों से, स्वर्ण उषा के अधरों से, मुक्त-मेघ की बूँदों से, तेजस्वी सूर्य-चंद्र की स्वतन्त्र किरणों से, इसी मरुभूमि पर उतरकर क्रीड़ा किया करती थी; इसी अभागे मेवाड़ की उन्नत रक्त-ध्वजा उसके पावन चरणों के एक-एक चुम्बन पर प्रफुल्ल होकर चित्तौड़ दुर्ग के सर्वोच्च शिखर पर बड़े वेग से फहरा उठती थी। तब मेवाड़ को 'अपना' कहते समय हमारे वीर पूर्वजों की छाती फूल उठती थी, मस्तक ऊँचा हो जाता था और आरक्त आँखों के कोनों से संतोष और स्वाभिमान की किरणें फूट निकलती थीं। किंतु, अब·········

प्रताप—अब भी मेवाड़ को 'माँ' कहते समय किसे रोमांच न होगा ? क्या कहते हो भाई, हम माँ को भूल गए ? संभव है। पर माँ तो हमें नहीं भूली ! कल जिसे 'अपनी' कहने में गर्व होता था, उसी को आज कोई केवल इसलिए 'पराई' कैसे कहेगा कि उसे 'अपनी' कहने में लाज लगती है। क्षुब्ध न हो सामंतजी ! शक्ति और साधन तो देशभक्ति का शरीर मात्र है। उसकी अन्तरात्मा तो हृदय का वह उज्ज्वल भाव है, जो हममें उसके लिए पतंगे की तरह मर-मिटने का साहस भर देता है।

सामंत—फिर भी, जिनके कंधों पर आज चित्तौड़ के उद्धार का भार है, लाखों प्रजा-जनों की उत्सुक आँखें जिनकी विशाल भुजाओं-से आशा रखती हैं, उन्हींको इस प्रकार विलासिता और बुज़दिली

का जीवन बिताने का क्या अधिकार है ? मेवाड़ का राजमुकुट इस प्रकार कायरों के मस्तक का भूषण बनकर कब तक अपनी हँसी कराता रहेगा ?

प्रताप—यह प्रजा का प्रश्न है, जनता का अधिकार है। स्वदेश-के सच्चे सैनिक, अधिकारों के लोभ से, सर्वस्व बलिदान नहीं करते। हमारे हृदय में लगन और त्याग की भावना तो हो, सारा संसार क्षण-भर में हमारा सहायक बन जायगा !

(सहसा नेपथ्य में "जय मेवाड़", "मेवाड़पति की जय", "महाराणा प्रताप-की जय" की ध्वनि। प्रताप चौंकते हैं—कुछ खिन्न भी होते हैं।)

प्रताप—(स्वगत) इस कुसमय में यह विजय-नाद कैसा ? मेवाड़ के अकिंचन सेवक को किसने कहा 'महाराणा' ? किसकी जय और किसकी विजय ? जननी जन्मभूमि चित्तौड़ के उद्धार के पहले यह जय-नाद उपहास-सा प्रतीत होता है।

(चंद्रावत कृष्ण का, एक हाथ में मुकुट और दूसरे में तलवार लिए हुए, प्रवेश।)

प्रताप—(खड़े होकर) कौन ? चंद्रावत कृष्णजी ! आइए ! मेवाड़-के छोटे-से सैनिक को 'महाराणा' कहकर क्या विनोद करने आए हैं ?

चंद्रावत—महाराणा ! यह विनोद नहीं, सत्य है—सूर्योदय की तरह सुन्दर और सुस्पष्ट । आज चित्तौड़ का भाग्य जागा है । उदयपुर के उत्सुक वीर आपको बधाई देने आ रहे हैं।

(कुछ सैनिकों का प्रवेश।)

सैनिक—महाराणा की जय हो !

(प्रताप पहले किंचित् संकुचित होते हैं और फिर उनका स्वागत करते हैं।)

सामंत—(सबको यथास्थान बिठाकर) संभवतः किसी आकस्मिक आघात से राणा का गृह पवित्र करने को मेवाड़ी वीरों की यह मंदाकिनी आज इधर से बह निकली है। क्यों न चंद्रावत जी ?

चंद्रावत—(खड़े होकर) वीरो, तुम साक्षी हो। आज मैं प्रजा के प्रतिनिधि की हैसियत से वीरवर बाप्पा रावल का यह उज्ज्वल राजमुकुट—राजपुत्र प्रताप को नहीं—स्वदेश के सच्चे सैनिक को सौंपता हूँ। इसलिए नहीं कि इसे पहनकर राजा प्रजा पर अत्याचार करे, इसलिए नहीं कि इसे पहनकर प्रताप चित्तौड़ को भूल जायँ, इसलिए नहीं कि इसे पहनकर सेवक प्रभु बन जायँ। मैं इसे सैनिक प्रताप को देता हूँ—वीर प्रताप को देता हूँ—व्रती प्रताप को देता हूँ, केवल तेज पर मुग्ध होकर, त्याग को सिर झुकाकर, न्याय का भक्त बनकर, मातृभूमि पर मर-मिटने की आपकी अमर अभिलाषा से चित्तौड़ के उद्धार की आशा रखकर। प्रजा का निर्णय 'नहीं' सुनना नहीं जानता ! देव, यह जनता की धरोहर—प्रजा की भेंट—कर्तव्य समझकर ही—स्वीकार कीजिए !

(सैनिक जयनाद करते हैं। प्रताप घुटने टेक देते हैं।)

प्रताप—आपके आग्रह के आगे सिर झुकाना मेरा धर्म है। मैं खूब जानता हूँ वीरो, यह काँटों का ताज है; शूलों की सेज है, न्याय की दुधारी तलवार है, त्याग का सर्वोच्च शिखर है ! यह मुकुट नहीं—कर्तव्य है, जितना उज्ज्वल है, उतना ही कटु है ! यह प्रभुता का चिह्न नहीं, सेवा का निशान है; राजकुमारों का विलास नहीं, वीरों का बलिदान है। मैं इस विष के प्याले को अपने प्रभु की—प्रजा की—आज्ञा से अमृत की तरह पीने को तैयार हूँ।

(चंद्रावत सिर पर मुकुट रखते हैं, हाथ में तलवार देते हैं, सैनिक जय-नाद करते हैं ।)

चंद्रावत—प्यारे महाराणा ! आपका सिंहासन राजमहलों में नहीं—प्रजाजनों के हृदय में बिछे और आपका अभिषेक क्षुद्र जल-कणों से नहीं—स्वाधीनता-संग्राम में वीरों के हृदय-रक्त की लाल-लाल बूँदों से हो !

प्रताप—(तलवार खींचकर) भवानी ! तू साक्षी है ! जनता-जनार्दन ने आज मुझे अपना सेवक चुना है। मैं आज तुझे छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि जन्म-भर मातृभूमि मेवाड़ के हित में, तन, मन, धन, सर्वस्व अर्पण करने से मुँह न मोड़ूँगा। सागर मर्यादा, हिमालय गौरव, सूर्य तेज और वायु वेग भले ही छोड़ दे, यह प्रताप प्राण छोड़कर भी प्रण न छोड़ेगा। भाइयो, जब तक चित्तौड़ का उद्धार न कर लूँगा, सत्य कहता हूँ, कुटी में रहूँगा, पत्तल में खाऊँगा और तृणों पर सोऊँगा। आज ही से, नहीं, इसी क्षण से, मेरे लिए ये राज-प्रासाद, ये स्वर्ण-शृंगार और ये आनंद-विहार तृण से भी तुच्छ हैं ! माँ का स्वर्ण-संसार आज श्मशान हो रहा है—प्यारे चित्तौड़ में एक भी दीपक नहीं—उसका सम्मान आज विदेशियों के अत्याचारों की पद-रज बना हुआ है ! क्या अब भी हम सुख की नींद सो सकेंगे ?

(सैनिकों के खड्गों की झंकार और उनकी 'नहीं' 'नहीं' की ध्वनि ।)

प्रताप—चित्तौड़ के सपूतो, मेवाड़ के वीरो, आज यदि तुम्हारे उष्ण रक्त में कुछ भी उबाल आता है, तो मेरी प्रतिज्ञा में सहायक बनो। आओ, आज से हमारे हृदय में खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-

बैठते, लड़ते-भिड़ते, आठों पहर, स्वाधीनता की प्रबल आकांक्षा प्रलयाग्नि बनकर भड़का करे। उसकी एक-एक चिनगारी गुलामी के विकट वन को भस्म करती रहे। चित्तौड़ के उद्धार के पहले हमें, पृथ्वी तो क्या, स्वर्ग में भी शान्ति न मिले।

सैनिक—हम चित्तौड़ के लिए आपके इंगित पर हँसते-हँसते मर मिटेंगे।

चंद्रावत—मेवाड़ के सूर्य! बरसों से जो अभिलाषा इस हृदय-में छिपी पड़ी थी, वह आज पूरी हुई! चित्तौड़ की दुर्दशा पर रोते-रोते आँखें अंधी हो चली थीं—हृदय फटा जाता था। कोई ऐसा नायक नज़र नहीं आता था, जिसके इंगित पर मेवाड़ी वीर हँसते-हँसते चित्तौड़ की बलि-वेदी पर अपने प्राण होम देते। राणा! तुम्हें पाकर आज हम धन्य हैं, मेवाड़ धन्य है, और धन्य है राजस्थान!

प्रताप—वीरो! मेवाड़ के अभिमान! चित्तौड़ की आशा! आज तुम्हें पाकर हृदय उत्साह से भर गया है। चित्तौड़ के खँडहरों-का शून्य हृदय हमारी अकर्मण्यता पर हाहाकार कर रहा है। एक बार उसे फिर स्वाधीनता-संग्राम के लाल दिन दिखाने को जी चाहता है। चलो, हम संसार को दिखा दें कि पद-दलित देशों के शेष शूर किस तरह अत्याचारियों की जड़ हिला देते हैं। आज से मेवाड़ का प्रत्येक पर्वत हमारा दुर्ग, प्रत्येक वन हमारा युद्ध-क्षेत्र और प्रत्येक गुफा हमारा राज-महल होगी। चित्तौड़ का उद्धार हमारा लक्ष्य होगा और बलिदान हमारा मार्ग। जय मेवाड़!

(प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन।)

तीसरा दृश्य

स्थान—पृथ्वीसिंह का कला-भवन।

(पृथ्वीसिंह और गंगासिंह का प्रवेश।)

गंगा०—कुछ भी हो ! मेरी आत्मा के 'भीतर-तर' से तो दिन-रात यही ध्वनि आया करती है कि, अकबर के जोड़ का सहृदय अभी तक दुनिया के परदे पर नहीं हुआ ! अजी, सुना है, बात-बात में कविता करता है।

पृथ्वी०—मेरा तो प्रत्यक्ष अनुभव है। उस दिन बाग में जब उन्होंने गुलाब-जल के फ़व्वारे से अपनी मैना के श्यामल पंख भिगोते हुए कहा—"पृथ्वीसिंह !"—न, न,—"कविवर पृथ्वीसिंह !" "मैना को सोना देकर क्या उसका स्वर ख़रीदा जा सकता है ?" तब मैंने सोचा—"कैसी स्वाभाविक कविता है—कैसा सरल हृदय है !" दूसरे दिन भारत का मान-चित्र दिखाते हुए जब उन्होंने कहा—"भाई, किस दिन यह सारी भूमि मेरी होगी—किस दिन मैं इसमें एकान्त ममता की मधुर-मूर्ति देखूँगा !" तब मैंने अनुभव किया—"कितनी उदार भावना है—कैसा विशाल हृदय है !" यही बात जब तीसरे दिन मेरी रानी ने सुनी, तब वह बोली—"वाह ! कितनी विराट् क्षुधा है ! कैसा विशाल उदर है !" छिः, कैसी नीरस है रानी !

गंगा०—भला, कहाँ हृदय, और कहाँ उदर ! कहाँ मधु का छत्ता और कहाँ धान की कोठी !

पृथ्वी०—रानी कहती है—"वीरांगनाओं का शृंगार है जौहर !" वही न, जिसमें हज़ारों कोमल कमल जलाकर ढेर-भर राख बनाई जाती है ! फिर उस राख पर कुत्ते भूँकते हैं, स्यार बोलते हैं, गधे लोटते हैं ! अपने राम को तो उस राख में कोई कविता नज़र नहीं आती !

गंगा०—कविता तो है सरिता के कूलों में, बाग़ों के फूलों में, माली में, डाली में, जाली में और रखवाली में। ठीक कहते हैं गुरुजी, बरबादी में कविता को आबादी हो ही कैसे सकती है ?

पृथ्वी०—उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, रानी की जीभ लड़ाकू मेवाड़ियों ही के गुण गाया करती है। रात-दिन युद्ध-रक्त, मार-काट और हाय-हत्या के सिवा इन लोगों को कुछ भी नहीं सूझता ! ये काल-भैरव भी नहीं, जो दो-चार बकरे काट कर इनकी रक्तपिपासा सदा के लिए शांत कर दी जाय। ये तो नर-रक्त पीते......

गंगा०—अजी, पीते कहाँ हैं ? बहाते हैं, बखेरते हैं, टपकाते हैं, फिर भी नाचते हैं—गाते हैं। जो मख़मली म्यान की सुन्दर कटार हम जैसे सुकुमार कलाविदों की कमर का शृंगार होती है, उसी को नाहक नंगी करके ख़ून में नहलाया करते हैं। ज़रा भी मधुरता नहीं—ज़रा भी सरसता नहीं—ज़रा भी कोमलता नहीं—ज़रा भी शीतलता नहीं ! यह भी कोई जीवन में जीवन है ?

पृथ्वी०—और सुनो, नवरोज़ा बाज़ार के लिए अकबर का निमंत्रण जब आया, तब हमारी रानी जी, पूजा की कालकोठरी में बंद, मुठी-भर धूल में नाक रगड़ रही थीं ! पूछा—"क्या है ?", तो कहती हैं—"चित्तौड़ की रज की वंदना कर रही हूँ—यह मेरी

वीर-पूजा है।" मैंने कहा—"वाह री वीर-पूजा ! नाक मैली करनी थी, तो कस्तूरी से करतीं ! नवरोज़ के केवल कुछ सप्ताह रह गए हैं और श्रीमती जी तैयारी छोड़कर धूल से मगज़मारी कर रही हैं ! बाबा, नवरोज़ बाद, चाहोगी तो चित्तौड़ के खँडहरों की धूल ही नहीं—ईट-चूना, मिट्टी-कूड़ा, पत्थर-पहाड़, सब कुछ यहीं मँगवा दूँगा, चाहो तो नाक रगड़ा करना और चाहो तो सर फोड़ा करना।" पर, सुनता कौन ? रानी जी वीर-पूजा जो कर रही थीं !

गंगा—रानी जी कुछ भी समझें, पर, गुरुजी, अपने राम की 'गिद्ध'-दृष्टि में तो मुग़ल-दरबार एक ख़ासा चिड़ियाख़ाना है ! उसका मूलाधार है अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड के जीव-मात्र की असीम समानता। उसमें उल्लू से लेकर मोर तक एक बोली बोलते हैं, कौवे से लेकर कोयल तक एक सुर में गाते हैं, गन्धर्व से लेकर गर्दभ तक एक ही ताल पर नाचते हैं, गीदड़ से लेकर शेर तक एक ही सुनहली साँकल-में बाँधे जाते हैं !

पृथ्वी—'अकबर भी एक विचित्र जुलाहा है'—यह जो रानी···

गंगा—(आगे बिना सुने ही) क्या कहा ? जुलाहा है ! भई वाह ! यहीं तो आपकी महत्ता है—यहीं तो आपका गुरुत्व है—यहीं तो मुझे आपको मानना पड़ता है ! क्या अनोखी सूझ है ! क्या बेढब बात निकाली है ! अकबर जुलाहा है ! वाह ! एकदम नई कल्पना ! एकदम मौलिक उपज ! एकदम क्रांति ! एकदम युग-परिवर्तन ! सचमुच आप साहित्य के सूर्य हैं ! रूपकों के सम्राट्···

पृथ्वी०—अरे अफ़ीमची, कुछ सुनोगे भी, समझोगे भी, या यों ही समालोचना की दुनाली दाग़े जाओगे ! इसमें कौन-सी अपूर्वता

है ? कौन-सी नवीनता है ? कौन-सा चमत्कार है ? कौन-सी कविता है ? कौन-सी कांति है ? यह तो उसी नीरस रानी की कर्कश प्रतिभा-का रूखा नमूना है। कविता नहीं— कविता का मज़ाक है, बिलकुल जंगली रूपक है ! वह तो बहुधा बका करती है—"अकबर भी एक विचित्र जुलाहा है ! ब्याह से, शादी से, नाते से, रिश्ते से, धन से, मान से, डर से, धौंस से, प्यार से, फटकार से, जैसे हो वैसे, भारत-भर के शासन-सूत्रों को एक में बाँधकर 'ताना-बाना' तनते-बुनते रहना उसका नित्यकर्म बन गया है। उसके विशाल साम्राज्य-पट में सबसे विराट् झोल है 'महाराणा प्रताप' ! बिना गहरी खींचा-तानी के, बिना दस-पाँच साल ऐसे-ऐसे कई कच्चे धागों की कविता नष्ट किए, यह झोल भरने का नहीं।"

(गंगासिंह अवाक्।)

पृथ्वी०—हूँ ! क्या रक्खा है इस ऊट-पटाँग रूपक में; (गंगासिंह की बाँह पकड़कर) चलो चाँदनी में बैठकर एकाध गान सुना जाय !

(प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन।)

चौथा दृश्य

स्थान—वन।

[शिकारी के वेश में राणा प्रताप और शक्तसिंह का प्रवेश।]

प्रताप—क्या कहते हो शक्त ? शिकार तुम्हारे प्रहार से मरा ! झूठ ! बिलकुल झूठ ! उसे तो मेरा बाण पहले ही बेध चुका था !

शक्त—इस भ्रम में न रहिएगा महाराज !

प्रताप—इतनी स्पर्धा ! इतना साहस !

शक्त—क्यों राणा, क्या मेरी नसों में मेवाड़ियों का वीर रक्त नहीं है !

प्रताप—शक्तसिंह ! सावधान ! देखता हूँ, तुम्हारी उद्दंडता धीरे-धीरे मेरे सम्मान को ठुकरा देना चाहती है !

शक्त—वीरों का स्वाभिमान किसी के सम्मान पर निछावर कर देने की चीज़ नहीं है !

प्रताप—जानते हो शक्त, प्रताप ने अपने जीवन में इतना कड़वा घूँट कभी नहीं पिया है ! वह इस प्रकार का अपमान चुप-चाप सह लेने का आदी नहीं है !

शक्त—तो शक्तसिंह को भी सत्ताधारियों की चरण-रज चूमने का अभ्यास नहीं है। बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य उसकी तलवार के म्यान में पड़े रहते हैं !

प्रताप—अरे वाचाल ! जानता है इस राजद्रोह का परिणाम क्या होगा ? मेवाड़ के मुकुट के अपमान का फल क्या मिलेगा ?

शक्त—मृत्यु से अधिक कुछ नहीं !

प्रताप—सावधान शक्त ! अब भी अवसर है।

शक्त—अवसर ! अवसर की अपेक्षा करते हैं कायर—निर्वीर्य—शक्तिहीन !

प्रताप—बस ! अन्तिम बार ! यह अन्तिम चेतावनी है शक्त !

शक्त—शक्त को भय दिखाने से पहले स्वयं सँभलें महाराज !

प्रताप—हूँ ! प्रताप की क्रोधाग्नि में आहुति बनने की इतनी प्रबल लालसा है ! लक्ष्यहीन युवक ! निरर्थक प्राण गँवाने की इतनी भीषण साध है !

शक्त—लड़ते-लड़ते मर-मिटना ही वीरों का चरम लक्ष्य है—सार्थक साधना है। और फिर, प्रताप के प्रताप से शक्त की शक्ति भी तो कुछ कम नहीं है !

प्रताप—अच्छा तो आ ! भुजदंड के घमंड में मतवाले उद्दंड ! अपने अनुचित साहस का उचित दंड पाने को तैयार हो !

शक्त—(तलवार खींचकर) तलवार हाथ में रहते सैनिक को दंड देना यमराज के लिए भी असंभव है ! प्रताप के प्रहार की निरंतर प्रशंसा करनेवाले मेवाड़ को आज शक्तसिंह दिखला देगा कि उसकी भुजाओं में सम्राटों से अधिक बल और हृदय में हिमालय से अधिक स्वाभिमान है !

प्रताप—प्रताप बकवादी नहीं, कार्यकर्ता है ! वह अपनी प्रशंसा करना नहीं, अपराधी को दंड देना चाहता है ! शक्तसिंह ! मेवाड़ के कलंक ! अपने कर्मों का फल पाने को तैयार हो ! सावधान !

शक्त—हूँ ! सावधान ! (प्रहार ।)

(दोनों का घोर-युद्ध प्रारंभ । पुरोहित का प्रवेश ।)

पुरोहित—(बीच में दौड़कर) शांत ! शांत ! राणा, शांत ! शक्त ! बस करो ! यह गृह-युद्ध ! यह पातक ! शिव, शिव ! सारा संसार आश्चर्य करेगा। पूर्वज हँसेंगे। राणा ! तुम गंभीर हो ! शक्त ! तुम वीर हो ! प्रशांत महासागर में यह भयंकर लहर ! अनुचित है ! असंगत है ! अद्भुत है ! भाई-भाई की लड़ाई बाप्पा रावल की उदार संतान को शोभा नहीं देती ! क्षमा करो राणा ! शांत हो शक्त ! तुम छोटे हो ! बड़े भाई पर प्रहार कर अपनी वीरता को कलंकित न करो।

शक्त—वीरता के असीम सागर पर आयु की मर्यादा अस्थिर होती है देव ! और यह तलवार ! यह सैनिक की तलवार है पुरोहित-जी ! एक बार म्यान से निकल चुकने पर यह बिना रक्त पिए शांत नहीं होती। आज वीर का अपमान करने वाले अभिमानी राणा का रक्त पिए बिना यह शांत न होगी—न होगी ! स्वाभिमान के सम्मुख सच्चे सैनिक को संसार के समस्त नाते तुच्छ प्रतीत होते हैं ! पुरोहित-जी ! मैं रणचंडी का आह्वान कर चुका हूँ ! अब आपका उपदेश व्यर्थ है ! (प्रहार।) समय हो चुका।

प्रताप—इस उद्दंड अपराधी का न्याय्य दंड मृत्यु ही हो सकता है ! राजदंड के आगे भ्रातृत्व की प्रभा फीकी पड़ जाती है !

(पुनः युद्ध।)

पुरोहित—(स्वगत) वीरता और अग्नि दोनों बड़ी उपयोगी हैं—बड़ी उज्जल हैं, किन्तु, हाय, उनका उपयोग अपने ही पर करनेवाले नादान, क्या कहे जा सकते हैं ? दयनीय—अभागे—आत्मघाती ! हा दुर्दैव ! अभागी आँखें यह क्या देख रही हैं। संसार-भर को प्रकाश देनेवाले प्रखर सूर्य में कलंक ! मेवाड़ के सपूतों में

फूट ! भगवान् ! क्या यही हृदय-विदारक दृश्य दिखाने को मुझे अब-तक जीवित रखा था ! अब नहीं रहा जाता—अब नहीं सहा जाता ! विश्व को क्या यही अभीष्ट है ? प्रभु की क्या यही इच्छा है ? अच्छा ! (प्रकट) लो ! रक्त के प्यासे सैनिको ! रक्त लो ! रक्त लो ! तृप्त हो ! शांत हो !

(आत्मघात करके दोनों के बीच में गिर पड़ता है। दोनों युद्ध से विरत होते हैं। विकल होकर घुटने टेक देते हैं।)

शक्त—हा पुरोहित जी !

प्रताप—पूज्य ! मुझे क्षमा कीजिए। मैं न जानता था कि बात-बात में आज मेवाड़ के इतिहास को आप जैसे सत्पुरुष की हत्या का कलंक लग जायगा।

पुरोहित—वत्स ! मेरे लिए पश्चात्ताप न करो। मैं आज संसार-को दिखा देना चाहता हूँ कि भारत के विद्वान् केवल दान लेना ही नहीं जानते, समय पड़ने पर देश के लिए प्राण भी होम देते हैं !

(मृत्यु।)

प्रताप—शक्त ! इस निरपराध उदार विद्वान् की हत्या तुम्हारी उद्दंडता से हुई है। तुम्हें प्राणदंड देता, पर इस बार क्षमा करता हूँ ! जाओ, इसी क्षण मेरे राज्य की सीमा से बाहर हो जाओ !

शक्त—क्षमा ! यह क्षमा बड़ी कटु, बड़ी भयंकर है प्रताप ! याद रखना, किसी दिन यह तुम्हें बड़ी असहाय अवस्था में लौटाई जायगी। (प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन।)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—उदयपुर, पथ।

समय—प्रभात।

[पर्वत पर मेवाड़ का झंडा। कुछ मेवाड़ी सैनिक केसरिया वेश में, खुले बाल, कमर में तलवार, हाथ में शस्त्र लिए, सम्मिलित गान गाते जा रहे हैं।]

प्यारे राजस्थान, हमारे प्यारे राजस्थान!

तू जननी, तू जन्मभूमि है,
तू जीवन, तू प्राण!
तू सर्वस्व शूर-वीरों का,
भारत का अभिमान!
हमारे प्यारे राजस्थान!
प्यारे राजस्थान, हमारे प्यारे राजस्थान!

उष्ण रक्त अगणित अरियों का
बार-बार कर पान,
चमकी है कितने युद्धों में
तेरी तीक्ष्ण कृपाण!
हमारे प्यारे राजस्थान!
प्यारे राजस्थान, हमारे प्यारे राजस्थान!

तेरी गौरवमयी गोद का
रखने को सम्मान,
करते रहे सपूत निछावर
हँसते-हँसते प्राण!
हमारे प्यारे राजस्थान!
प्यारे राजस्थान, हमारे प्यारे राजस्थान!

'जौहर' की ज्वाला में जिनकी
थी अक्षय मुसकान,
धन्य वीर बालाएँ तेरी,
धन्य धन्य बलिदान!
हमारे प्यारे राजस्थान!
प्यारे राजस्थान, हमारे प्यारे राजस्थान!

जब तक जीवित हैं, हम तेरी
वीर-व्रती संतान,
ऊँचा मस्तक अमर, अमर है
तेरा रक्त निशान!
हमारे प्यारे राजस्थान!
प्यारे राजस्थान, हमारे प्यारे राजस्थान!

(प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन।)

———

छठा दृश्य

स्थान—मरुभूमि; निर्जन वन।

समय—ग्रीष्म; मध्याह्न।

[श्रान्त पथिक के वेश में अर्ध-विक्षिप्तावस्था में अकेला शक्तसिंह।]

शक्त—प्यास-प्यास! पानी-पानी! प्रताप! निष्ठुर प्रताप! इस अभागे को—कलंक को—प्यासा ही निकालकर क्या तुम सुख से सो सकोगे? राजस्थान! मरुभूमि! मेरे लिए तेरे आँचल में एक कण भी स्नेह नहीं! एक बूँद भी जल नहीं! अच्छा! याद रखना, किसी दिन तुझे श्मशान बनाकर छोड़ूँगा! प्रतिहिंसा—प्रतिशोध—स्वाभिमान—सम्मान! प्यास-प्यास, पानी-पानी!

(विकल होकर बैठ जाता है।)

(थोड़ी देर बाद कुछ स्वस्थ होकर)

क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? स्वार्थियों के क्रीड़ास्थल संसार में अभागे स्वाभिमानी के लिए ज़रा भी स्थान नहीं! जा, जा, निर्वासित शक्तसिंह, विस्मृति के किसी अतल अन्धकार में डूबकर मर जा! तेरे लिए राजस्थान में स्थान नहीं, मेवाड़ में शरण नहीं, भारत में हाथ-भर भूमि नहीं और संसार में छोटी सी छाया नहीं!

(कुछ रुककर)

स्वार्थ, स्वार्थ, चारों ओर स्वार्थ! स्वार्थी बालू संसार का सारा-जल सोखे बैठी है, स्वार्थी प्रताप समस्त मेवाड़ पर एकाधिकार जमा रहा है, स्वार्थी धर्म का द्वार अनाथों के लिए बंद है, स्वार्थी समाज

अभागों पर दया नहीं करता, स्वार्थी देश निर्वासितों को आश्रय नहीं देता ! स्वार्थ, स्वार्थ, चारों ओर स्वार्थ ! स्वार्थी संसार छल से, बल-से, धर्म से, अधर्म से, जैसे हो वैसे, स्वार्थ सिद्ध कर रहा है !

(उत्तेजित होकर)

अच्छा ! लो, स्वार्थ के विश्व-व्यापी कीटाणुओं ! सावधान ! स्वार्थी शक्तसिंह आज देश, धर्म, कर्तव्य और नीति के सारे पाखंड-को लात मार कर केवल स्वार्थ सिद्ध करेगा । प्रतिहिंसा—प्रतिहिंसा ! प्रतिशोध—प्रतिशोध !

(प्रस्थान ।)

(पट-परिवर्तन ।)

सातवाँ दृश्य

स्थान—प्रताप की कुटी ।

[व्रती वेश में राणा प्रताप और कुमार अमरसिंह ।]

प्रताप—आश्चर्य है, अमर ! राजा मान, आज यकायक इधर रास्ता कैसे भूल गए ! (कुछ सोच कर) हूँ ! इसमें अवश्य कोई गूढ़ रहस्य है ! वह कहाँ से आ रहे हैं, कुछ मालूम हुआ ?

अमर—वह शोलापुर-संग्राम में विजय पाकर मेवाड़ के महाराणा-के दर्शन करने इधर चले आए हैं । भला, इसमें कौन-सा रहस्य हो सकता है, पिताजी ?

प्रताप—अभी तुम भोले हो अमर ! पददलित चित्तौड़ के हत-भाग्य राणा को अपना विजय-वैभव दिखाकर प्रभावित करना क्या

रहस्य नहीं है ? मेवाड़ का आतिथ्य स्वीकार कर, स्वतंत्र सीसौदिया-वंश से भोजन-व्यवहार कर, दासता के कलंक को धोने की चेष्टा कर, सारी राजस्थानी-जाति के सम्मुख अपने को उज्ज्वल प्रमाणित करने-में क्या मानसिंह की कूट-नीति नहीं है ? सात सौ वर्षों से निरन्तर फहरानेवाली मेवाड़ की उन्नत रक्त-ध्वजा के नीचे बैठकर स्वाभिमानी प्रताप से प्रेमालाप करने में क्या कोई अपूर्व अभिसन्धि नहीं है ? तुम क्या जानो अमर ! मेवाड़ का बच्चा-बच्चा जिसे घृणा से 'कपट' कहकर पुकारता है, उसी को ये भारतीय स्वाधीनता के शत्रु बड़े गर्व-से कहते हैं 'राजनीति' !

अमर—तो क्या उनका सत्कार न होगा ?

प्रताप—क्यों न होगा ? जिस प्रकार वह हमारे अतिथि हुए हैं, उसी प्रकार उनका सत्कार भी अवश्य होगा और वह तुम्हीं को करना होगा।

अमर—जो आज्ञा ! (जाने को उद्यत होता है।)

प्रताप—ठहरो ! पहले उनके सत्कार की विधि तो सीख जाओ।

(कान में कुछ देर तक कुछ कहकर प्रस्थान।)

अमर—द्वारपाल !

(द्वारपाल का प्रवेश।)

द्वारपाल—क्या आज्ञा है, पृथ्वीनाथ !

अमर—हमारी कुटी के सामनेवाले मैदान में तंबू तनवाकर ख़ूब राजसी ठाट-बाट और भड़कीली सजावट करवा रखो। सोने के बरतनों-में बादशाही भोजन भरवा रखो ! जाओ, जल्दी करो ! वहीं हम राजा मानसिंह को लेकर अभी आते हैं !

(द्वारपाल चलने लगता है।)

अमर—हाँ, एक बात और ! जब राजा मान भोजन करके चल-दें, तब सारा सामान उदयसागर के अतल जल में विसर्जित कर देना ! गंगाजल से धुलवाकर वहाँ की सारी भूमि पवित्र करवा देना ! समझे ! पिताजी की यही आज्ञा है। भारत को ग़ुलामी की ज़ंजीरों से जकड़नेवाले विदेशियों की जूठन खानेवाले देशद्रोही के स्पर्श का एक भी कण न रहने पाए ! नहीं तो पिताजी नाराज़ होंगे।

द्वारपाल—जो आज्ञा अन्नदाता !

(प्रस्थान।)

(दूत का प्रवेश।)

दूत—महाराज-कुमार की जय हो ! राजा मानसिंह पधारते हैं।

अमर—उन्हें सादर लिवा लाओ और हमारे सभासदों को भी संवाद दो।

(प्रणाम करके दूत का प्रस्थान।)

अमर—(स्वगत) पिताजी ने न-आने का कारण क्या बताया था ? (याद करके) हाँ—आँ—आँ—ठीक !

(एक ओर से मानसिंह का अपने साथियों-सहित प्रवेश और दूसरी ओर से प्रताप के सभासदों का अमर के पार्श्व में आकर खड़े होना। अमर का मानसिंह की अगवानी करना।)

अमर—अंबर के महाराज ! स्वागत है ! आपने इस दीन-हीन मेवाड़ पर बड़ी कृपा की।

मान—पुण्यश्लोक महाराणा प्रताप के दर्शनों की तीव्र लालसा ही यहाँ तक खींच लाई है कुमार !

अमर—महाराज, ग़रीबों की इस कुटी में आपके योग्य स्वागत-

सामग्री का सर्वथा अभाव है ! चलिए, आपके लिए डेरों में प्रबंध किया गया है।

(सहसा जंगल का परदा हटकर सामने राजसी तंबू दिखाई देता है।)

अमर—पधारिए महाराज !

(मानसिंह चकित होते हैं, अमर उन्हें सोने के थाल के पास ले जाते हैं।)

अमर—ग़रीबों के घर की रूखी-सूखी ग्रहण कीजिए !

मान—(ठंढी साँस लेकर) हाय, यदि मुझे सचमुच रूखी-सूखी ही मिलती, तो मैं धन्य हो जाता कुमार ! (बात का रुख़ बदल कर) ख़ैर, यह तो बताओ, महाराणा ने अभी तक दर्शन क्यों नहीं दिए ?

अमर—वह ज़रा अवस्थ हैं महाराज !

मान—(व्यंग्य से) आज ही अस्वस्थ हो गए हैं या पहले ही से थे ! महाराणा के इस आकस्मिक अस्वास्थ्य का रहस्य कुछ-कुछ समझा जा सकता है ! महाराणा ने क्या मुझे बिलकुल मूर्ख समझ रखा है कुमार !

अमर—उनके मुँह से तो मैंने यह कभी नहीं सुना।

मान—तो क्या महाराणा मेरे साथ भोजन नहीं करेंगे ?

अमर—वह विवश हैं, महाराज !

मान—तो मैं भी विवश हूँ कुमार ! महलों के पकवानों से ऊबकर मैं राणा की रूखी-सूखी खाने आया था। संसार के मान-सम्मान से घबराकर मैं राणा का प्रेम पाने आया था ! राणा ने मुझे इतना घृणित समझा ! मेरा मुँह देखना भी पाप समझा ! क्या मैं कुत्ता हूँ कुमार, जो राणा दूर ही से मेरे लिए ये टुकड़े फेंक रहे हैं ? मैं कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हूँ। भारत के बड़े-से-बड़े संग्रामों में मैंने

विजय पाई है । भारत-सम्राट् की रण-नौका का मैं सर्वोत्तम खिवैया हूँ । आज सारा भारत जिसके इंगित पर नाच रहा है, उसी का मैं सर्वोच्च सेनापति हूँ—सर्वश्रेष्ठ सखा हूँ ! इन भुजाओं से मैंने बड़े-बड़े गर्वोन्नत मस्तक झुका दिए हैं ! मेरे साथ राणा का यह व्यवहार ! इतनी घृणा ! इतनी उपेक्षा ! क्या उदार मेवाड़ का परंपरागत अतिथि-सत्कार यही है ?

अमर—अप्रसन्न न हों महाराज, इस सारी स्वागत-सामग्री को आपके योग्य बनाने में हम लोगों ने बहुत श्रम किया है ! इसे विफल न कीजिए । विलंब हो रहा है, भोजन कीजिए ।

मान—भोजन ! तुम्हें लाज नहीं आती अमरसिंह ! क्या मानसिंह ऐसे भोजन के लिए तरस रहा था ? इस भोजन में हृदय नहीं है, कुमार ! इसके कण-कण से घृणा टपक रही है ! मैं भोजन न करूँगा ! कहाँ हैं राणा प्रताप ? मैं उनसे एक बार अवश्य मिलूँगा ! बस कह चुका, बिना मिले न जाऊँगा । राणा की इतनी स्पर्धा ! मेवाड़ के छोटे-से शासक का इतना साहस ! भारत-सम्राट् के दाहिने हाथ मानसिंह का अपमान ! सावधान ! सरदारो ! सावधान ! जाकर प्रताप से कह दो, समूचे मेवाड़ को जलाकर राख कर देने की शक्ति अकेले इस मानसिंह के इंगित में है !

(प्रताप का प्रवेश ।)

प्रताप—(तलवार तानकर) और मानसिंह के फूफा सम्राट् अकबर को नाकों चने चबवाने की शक्ति मेवाड़ियों की इस करारी करवाल में है ! मानसिंह ! क्या तुमने यह समझ रखा था कि मेवाड़-की समुन्नत रक्त-ध्वजा तुम्हारे वैभव पर मोहित होकर तुम्हारे चरणों

में झुक जायगी ! क्या तुमने यह समझ रखा था कि वीर सीसौदिया-वंश अपना गौरव विदेशियों की जूठन खाने वाले देशद्रोही के चरणों तले बिछा देगा ! प्रताप के साथ भोजन करने की तुम्हारी कुटिल अभिलाषा तुम्हारा कितना बड़ा भ्रम था, मानसिंह कुछ समझे ?

मान—खूब समझ रहा हूँ—सब समझ रहा हूँ प्रताप ! मैं क्या समझ रहा हूँ ! इसका उत्तर समय देगा और देगा मेवाड़ के उद्ध्वस्त खँडहरों का हाहाकार ! 　　　　(प्रस्थानोद्यत ।)

प्रताप—जा, जा ! बकवादी ! देशद्रोही ! विदेशियों की चरणरज मस्तक पर लगाकर राजस्थान के तिलक मेवाड़ को भय दिखाने आया है !

[पटाक्षेप ।]

———

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—मुग़ल-प्रासाद ।

[विचारमग्न अकबर धीरे-धीरे टहल रहा है ।]

अकबर—(स्वगत) मानसिंह की तौहीन अंबर के राजा की तौहीन नहीं, मुग़ल सल्तनत के सिपहसालार की तौहीन है। शक्तसिंह-का झुकना मामूली सिपाही का झुकना नहीं, मेवाड़ के लाल झंडे का झुकना है। नवरोज़ के बाज़ार का सौदा मामूली सौदा नहीं, बहुत बड़ी क़ौम की इज़्ज़त का सौदा है, जिस पर शाहंशाह अकबर को फ़ख्र भी है और फ़िक्र भी है ! और प्रताप ! मेरी सल्तनत के हज़ारे फूल का काँटा ! वही—बस वही—अब तक आँखों में खटक रहा है, कलेजे में कसक रहा है ! सल्तनत की बड़ी से बड़ी ताक़त और शानोशौक़त को बरबाद करके भी अगर उसे निकाल फेंका जा सके, तो अकबर सारी मुसीबतें सर-आँखों-पर उठाने को तैयार है ! (प्रकट)—दरबान ! ए दरबान !

(दरबान का प्रवेश ।)

दरबान—जहाँपनाह !

अकबर—जाओ ! शक्तसिंह को जल्द हाज़िर करो !

दरबान—जो हुक्म ख़ुदावंद ! (प्रस्थान ।)

अकबर—(स्वगत) यह शक्तसिंह जितना बहादुर है, उससे कहीं

ज़्यादह भोला है। भाई से बदला लेने के लिए दुश्मन से मदद चाहता है। बेचारा यह नहीं जानता कि कभी-कभी इंसान कुएँ से निकल कर खाई में जा पड़ता है! अच्छा अब जान जाएगा! आज मुग़ल-ख़ानदान सीसौदिया-वंश को एक नई सौग़ात देगा! बादशाहों की मुहब्बत भी किसी ख़ास मतलब से ख़ाली नहीं होती, यह इसे अब मालूम हो जायगा।

(शक्त का प्रवेश।)

शक्त—क्या सम्राट् ने मुझे याद किया है?

अकबर—हाँ, आओ शक्तसिंह! सच कहता हूँ, तुम जैसे बेजोड़ बहादुर की बेइज़्ज़ती का ध्यान आते ही मेरी रग-रग में आग लग जाती है—मैं तुम्हारे लिए अपनी जान लड़ा देने को बेताब हो उठता हूँ। बैठो, मुझे तुमसे कई बहुत ज़रूरी बातें करनी हैं।

शक्त—फ़रमाइए शाहंशाह!

अकबर—देखो शक्तसिंह! मैंने तुम्हारे निस्बत अपने दिल में कैसे ख़याल बना रखे हैं, यह अभी तुम पर ज़ाहिर नहीं हुआ है। जिस दिन ज़ाहिर होगा, उस दिन समझोगे!

शक्त—सम्राट् की मुझपर कृपा-दृष्टि है, यह मैं ख़ूब जानता हूँ।

अकबर—मगर, अभी तुम भोले हो शक्तसिंह! अपने दुश्मन के साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए, यह तुम मुझसे सीख सकते हो। प्रताप ने तुम्हारे साथ जो ज़ुल्म किया है, उसका बदला लेने की तुम्हारी ख़्वाहिश बेशक तुम्हारी ज़िन्दादिली है, मगर दुनिया के सारे काम सिर्फ़ भोली बहादुरी से तो नहीं हुआ करते! उसके लिए कुछ हथकंडे भी सीखने पड़ते हैं! मैं तुम्हारे पीछे अपनी सल्तनत पर

आफ़त ढा रहा हूँ। तुम जैसे चाहो, प्रताप से अपना बदला चुका लो। मैं तुम्हारा साथ दूँगा, यह सच है; मगर मेरी भी एक शर्त है! तुम्हें मेरा हुक्म मानना पड़ेगा। याद रखो, शक्तसिंह, यह सब तुम्हारी—सिर्फ़ तुम्हारी—भलाई के लिए हो रहा है।

शक्त—सच कहते हैं सम्राट्! आपको यह सारी झंझट मेरे ही लिए तो उठानी पड़ रही है! मैं आपका कृतज्ञ हूँ! जब आप एक सच्चे मित्र की तरह मेरा साथ दे रहे हैं, तब मैं आपकी आज्ञा क्यों न मानूँगा?

अकबर—अच्छा तो जाओ, मानसिंह को प्रताप की फ़ौजी-ताक़त की अंदरूनी हालत समझाने का इंतज़ाम करो! समझे!

(शक्त पहले चौंकता है, फिर उद्विग्न भाव से चला जाता है।)

अकबर—बेचारा बहादुर मीठा ज़हर पी रहा है। समझता है, यह सारी मुसीबत उसी के लिए एक सच्चे दोस्त की तरह उठाई जा रही है। कौन जानता है, कि शाहंशाह अकबर को मैदाने-जंग में खींचने की ताक़त प्रताप की ग़रूर से तनी हुई त्यौरियों और मेवाड़ के आज़ादी से उठे हुए लाल-झंडे में है, न कि मानसिंह और शक्तसिंह के बेइज़्ज़ती से झुके हुए सर में। दुनिया-भर के अभागों, दुखियों और मुहताजों को पनाह देकर ही अकबर आज जहाँपनाह नहीं कहला सकता था, उसकी बढ़ती हुई सल्तनत का राज़ तो उसकी पोशीदा ख़्वाहिशों की बुलंदी और पेचीदा चालों में है। हः-हः हः! इन भोले बहादुरों ने काले साँप को रस्सी समझ रखा है! मगर प्रताप! अफ़सोस! अकेला प्रताप कुछ-कुछ समझता है! दरबान! ए दरबान!		(दरबान का प्रवेश।)

दरबान—जहाँपनाह !

अकबर—ज़रा जल्द जाकर राजा मान को तो बुला लाओ ! ज़रा फुर्ती से ।

दरबान—जो हुक्म हुज़ूर । (प्रस्थान ।)

अकबर—प्रताप और अकबर ! दोनों में कितना ज़बर्दस्त फ़र्क़ है । मतलब के लिए परायों को अपना बनाना अकबर ख़ूब सीखा है और बेमतलब अपनों को पराया बनाना प्रताप को अच्छी तरह आता है ! यह राजस्थानी क़ौम जिसे एक दफ़ा अपना उसूल बना लेती है, बस उसी में अपनी इज़्ज़त समझती है, मर-मिटने पर भी उसे नहीं छोड़ती । बला की ज़िद है !

(मानसिंह का प्रवेश ।)

मान—क्या जहाँपनाह ने मुझे याद फ़रमाया था ?

अकबर—हाँ, राजा साहब, आइए, बैठिए ! आपसे आज प्रताप-के बारे में कुछ ज़रूरी बातें करनी थीं । सच कहता हूँ, आपकी तौहीन मुझे आज अपने तख़्तोताज की तौहीन मालूम हो रही है । मैं प्रताप-से इसका बदला लेने में कुछ भी उठा न रखूँगा । जंग को जाना होगा, समझे राजा साहब, जितनी फ़ौज की ज़रूरत हो, मेरा हुक्म है, आप अपने साथ ले जा सकते हैं ।

मान—मानसिंह जहाँपनाह के हुक्म की तामील करने को हमेशा जी-जान से तैयार है ।

अकबर—मेरा हुक्म ? क्या कहते हैं राजा साहब ! यह काम तो मेरा नहीं है । मैं तो सिर्फ़ आपकी तौहीन का बदला लेने के लिए यह सब आफ़त सर पर उठा रहा हूँ, आप इस बात को न भूल जायँ ।

मान—हुज़ूर की मुझ पर ऐन-इनायत है।

अकबर—देखो, मानसिंह, मैं तुम्हारी देख-रेख में सलीम को—ख़ास अपने पिसर को—जंग में भेज रहा हूँ, इसीसे तुम समझ सकते हो कि मुझे तुमपर कितना यक़ीन है।

मान—जहाँपनाह, हम लोग शाहज़ादा को शाहंशाह की जगह समझेंगे। जब तक दम-में-दम है सर-आँखों पर रखेंगे।

अकबर—अच्छा तो जाइए, राजा साहब, जंग के लिए जल्द कूच होना चाहिए। मैं आपकी फ़तह के इंतज़ार में हूँ। शक्तसिंह भी अभी आपसे मिलेगा। उससे आपको प्रताप की हालत बहुत कुछ मालूम हो सकेगी।

मान—जो हुक्म ख़ुदावंद!

(प्रस्थान।)

अकबर—जाओ, बेवकूफ़ बहादुरो जाओ! लड़ो, ख़ूब लड़ो, बेइज़्ज़ती पाने के लिए लड़ो, ग़ुलामी को गले लगाने के लिए जान लड़ाओ, दो घड़ी की सुर्खरूई हासिल करने के लिए क़ौम की जड़-में आग लगाओ! और अकबर! अकबर आराम करेगा! लोहों-से लोहों को लड़ाकर फूलों की ख़ुशबू लेगा—नवरोज़ के मेले के मज़े देखेगा। (प्रस्थान।)

(शक्तसिंह का प्रवेश।)

शक्त—बादशाह कहाँ गए? न—न; यह न होगा, हर्गिज़ न होगा—प्राण जाने पर भी न होगा—न होगा—न होगा।

(मानसिंह का प्रवेश।)

मान—क्या न होगा शक्तसिंह! जहाँपनाह कहाँ हैं? तुम मेरे

घर जाकर क्यों लौट आए ? सम्राट् ने तुम्हें मुझसे मिलने को भेजा था न ? और यह इतने उत्तेजित क्यों हो रहे हो ?

शक्तसिंह—आप नहीं समझ सकते राजा साहब ! हृदय में एक हलचल मच रही है। जीवन और मरण का प्रश्न है। उत्थान और पतन की उलझन है । जिस उज्ज्वल भावना को हृदय का सर्वस्व बनाकर पाला था, उसे छोड़कर भी बिलकुल छोड़ते नहीं बनता ! न जाने क्यों हृदय में एक पीड़ा-सी होती है, इच्छा होती है कि एक बार फिर.........

मान—कभी-कभी इच्छाओं को परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ता है शक्तसिंह ! उच्च-आकांक्षाओं का रंगीन इन्द्र-धनुष कभी भी स्वप्नों के आकाश से नीचे नहीं उतरा करता !

शक्त—न उतरे ! किन्तु मैं धीरे-धीरे आत्म-गौरव के उच्च-शिखर-से बहुत नीचे गिरा जा रहा हूँ। यह असह्य है राजा साहब ! इतना नीचे उतरने का मुझे कभी अभ्यास न था।

मान—न था, तो, अब करना पड़ेगा। देखो, शक्त, यह शाही दरबार है। इसमें आने के पहले दो चीज़ें घर छोड़ आनी पड़ती हैं। जानते हो वे क्या हैं ? राष्ट्रीयता और स्वाभिमान। राष्ट्रीयता के रंग-में रँगे हुए लाल-लाल नेत्र और स्वाभिमान से ऊँचे उठे हुए मतवाले मस्तक, शाही दरबार के तंग द्वार में नहीं समा सकते। यदि देशभक्ति-के नाम पर अभिमानी प्रताप की ठोकरें खाने को जी ललचाता हो और मेवाड़ में तुम्हारे लिए हाथ-भर जगह भी हो, तो तुम ख़ुशी से लौट जाओ; किंतु, यदि बदला लेना हो, यदि निष्ठुर प्रताप के गर्वो-न्नत मस्तक को, सच्चे वीर की तरह, झुकाना हो, यदि वीरता का

पुरस्कार और अपमान का प्रतिशोध पाने की अभिलाषा हो, तो यह लड़कपन छोड़ो। शाही दरबार का ढंग सीखो!

शक्त—उफ़! जान-बूझकर जो मीठे ज़हर का प्याला ओठों से लगाया गया हो, उसपर आँसू टपकाना व्यर्थ है। एक बार अपना स्थान छोड़ चुकने पर पतनों की संख्या गिनना मूर्खता है। विवश हूँ। बहुत बढ़ आया। इस पथ में बड़ा आकर्षण है। इसपर एक बार आकर फिर लौटना बड़ा कठिन है—बड़ा कष्टकर है। और कोई गति ही नहीं रह जाती। अथाह समुद्र में डूबता हुआ मनुष्य उसके गर्भ में छिपे हुए बहुमूल्य रत्नों की चर्चा नहीं करता, उसका हाथ तो, सहारे के लिए, पास बहते हुए क्षुद्र तिनके ही पर पड़ता है। जो जिसका साथी है, वही उसके लिए बहुमूल्य है। अच्छा, राजा साहब, अब समय नहीं है। सब कुछ सीखना होगा, सब-कुछ करना होगा। उफ़! प्रताप का वह अन्याय—वह निष्ठुरता! याद आते ही मेरा रोम-रोम क्रोध से पागल हो जाता है! आइए राजा साहब, जल्द बताइए, क्या करना होगा!

(प्रस्थान।)

मान—शहद की बूँद क्षार समुद्र में कब तक अलग-अलग रहेगी? (प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन)

———

दूसरा दृश्य

स्थान--मेवाड़, चंद्रावत का गृह।

(चंद्रावत कृष्ण अकेले।)

चंद्रा०—मातृ-भूमि मेवाड़! आज तेरे भाग्याकाश पर संकट की काली घटाएँ घिर रही हैं। मान का अपमान, शक्तसिंह का निर्वासन, अकबर की साम्राज्य-लालसा, आज तुझपर तीन-तीन बिजलियाँ एक साथ कड़क रही हैं। सात सौ वर्षों से निरंतर फहरानेवाली तेरी उन्नत रक्त-ध्वजा आज अकबर के कलेजे में खटक रही है। युद्ध की संभावना है, वज्रपात का भय है, फिर भी तू अभय है। वीरों की जननी, सैनिकों की सर्वस्व, तेरे सपूत आज तक तुझपर प्राण निछावर करते आए हैं, तभी तो तू अचल है, तभी तो तू अटल है! चिंता नहीं माँ, चाहे सारा संसार चढ़ आए; जान भले ही जाए, पर तेरी शान न जाने पाए!

(तलवार खींचकर)

बहुत दिनों के बाद प्यास बुझेगी देवि! तैयार हो जाओ! प्राण निकलने के पहले एक बार तुम्हें पूर्ण तृप्त देखने की अभिलाषा है। देखो विफल न होने पाए! स्वदेश के शत्रुओं के उष्णरक्त से छककर जब तक तुम आँखें न मूँद लो, ये आँखें न मुँदने पाएँ! कब से तरस रहा था प्यारी, अब तुम्हारी रक्त-रंजित धार का उन्मत्त शृंगार देखूँगा!

विजय—(नेपथ्य से) हमें न दिखाओगे पिताजी!

(दौड़ते हुए प्रवेश।)

विजय—(चौंककर) यह क्या! नंगी तलवार!

चंद्रा—बेटा विजय !

विजय—पिताजी, आप किससे बातें कर रहे थे ?

चंद्रा०—अपनी तलवार से। क्यों ?

विजय—क्या देखना चाहते थे ?

चंद्रा०—तुम्हें इन बातों की चिंता न करनी चाहिए। देखते नहीं अभी तुम कितने छोटे हो ?

विजय—नहीं, पिताजी, बताइए क्या देखना चाहते थे ?

चंद्रा०—क्यों ?

विजय—हम भी देखेंगे।

चंद्रा—भोले बच्चे, तुम बड़े हठी हो। अभी तुम नहीं जानते कि दुनिया में तुम्हारे खेल-तमाशों से भी बड़े कई खेल-तमाशे हैं। उनमें से कुछ तो बड़े ही भयंकर—बड़े ही ख़ूँख़ार हैं ! नहीं मानते, तो, लो सुनो; मैं युद्ध देखना चाहता हूँ ! बस, अब तो जान गए। अब जाओ !

विजय—क्या युद्ध भी खेल होता है पिताजी ! युद्ध तो लड़ाई-को कहते हैं न ? आँखमिचौनी का दाँव न देने पर अगर मुन्नी मेरा मुँह नोच ले और मैं बदले में उसके गाल पर तड़ से एक थप्पड़ जमा दूँ, तो वह युद्ध कहलाएगा या खेल ?

चंद्रा०—युद्ध बच्चों का खेल नहीं, प्राणों पर खेलकर तलवार चलानेवाले और सीने पर गोलियाँ झेलनेवाले बहादुरों का खेल होता है, विजय ! उसमें लाखों प्राणों की आहुति पड़ जाती है, हज़ारों घर खँडहर बन जाते हैं, करोड़ों की धन-दौलत राह की धूल बन जाती है ! समझे ?

विजय--यह सब किस लिए पिताजी ?

चंद्रा०—कभी-कभी स्वाधीनों को पराधीन बनाने के लिए और कभी-कभी पराधीनों को स्वाधीन बनाने के लिए। कभी-कभी हँसतों-को रुलाने के लिए और कभी-कभी रोतों को हँसाने के लिए ! कभी स्वार्थ की सिद्धि के लिए और कभी न्याय की रक्षा के लिए !

विजय—आप किस लिए जायँगे पिताजी ?

चंद्रा०—मेवाड़ की रक्षा के लिए, पराधीन चित्तौड़ के उद्धार के लिए !

विजय—क्यों ? क्या चित्तौड़ पराधीन है ? पराधीन कैसा ?

चंद्रा०—वीर-भूमि मेवाड़ का हृदय—चित्तौड़गढ़—बरसों से पराधीन है मेरे लाल ! उस पर हम मेवाड़ियों का नहीं, विदेशियों का अधिकार है ! आज उसके सुन्दर-सुन्दर भवन खँडहर बने पड़े हैं, उनमें एक भी दीपक नहीं जलता। स्वाधीन मेवाड़ की वह राजधानी आज श्मशान की तरह सूनी पड़ी है। यही काँटा है विजय ! जब यह खटकता है, तब हृदय में बड़ी पीड़ा होती है, बड़ी उत्तेजना होती है; इच्छा होती है कि युद्ध की धधकती हुई आग में कूद कर पतंगे की तरह प्राण दे दिए जायँ !

विजय—तो आप जा रहे हैं ? कब जा रहे हैं, पिताजी ?

चंद्रा०—आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, परसों नहीं तो चार दिन बाद, मेवाड़ की स्वाधीनता के शत्रुओं के दल-के-दल इस ओर कूच किया चाहते हैं। अपनी राज्य-लालसा की आग में चित्तौड़ को जलाकर भस्म कर देने पर भी इन्हें संतोष नहीं हुआ। मेवाड़ की बची-खुची समृद्धि पर भी इनकी शनि-दृष्टि पड़ा चाहती है। बच्चे ! ये दिन बातों के नहीं, कार्य के हैं। मेवाड़ की रक्त-ध्वजा की

रक्षा के लिए आज प्रत्येक मेवाड़ी प्राणों की बाज़ी लगाए बैठा है। मुझे जाने दे विजय, समय हो गया।

विजय—हम भी चलेंगे पिताजी, हम भी बाज़ी लगाएँगे।

चंद्रा०—अभी तुम्हारा समय नहीं हुआ, बेटा! अवसर आने-पर तुम भी अपने पिता का अनुकरण करना। जाओ, कहा मानो, व्यर्थ हठ न करो।

विजय—जाने दो, न ले जाओ युद्ध में; हम अभी माँ से जाकर कहते हैं।

चंद्रा०—धन्य हो माँ, धन्य हो मातृभूमि! आज तुम्हारे अन्न-जल में यह शक्ति है कि इस अबोध शिशु के हृदय से भी उत्साह बनकर टपक रही है। वीरभूमि, सचमुच तुम्हारे कण-कण में तेज और बच्चे-बच्चे में बलिदान का भाव भरा पड़ा है! माँ, तुम साक्षात् दुर्गा हो! संसार की रण-देवता, तुम्हें प्रणाम! विजय, आओ बेटा! तुम भी प्रणाम करो! जिस देश में हमने जन्म लिया है, वही हमारी माँ है—ईश्वर से भी पूज्य और प्राणों से भी प्यारी!

(दोनों प्रणाम करते हैं। विजय जाने लगता है।)

चंद्रा०—कहाँ जा रहे हो, विजय?

विजय—माँ से नई तलवार लेने—वह जो उस दिन छोटी-सी आप मेरे लिए लाए थे। (प्रस्थान।)

चंद्रा०—ऐसे बच्चों के हाथ में देश का भविष्य सौंपकर बूढ़े सिपाही ख़ुशी-ख़ुशी कट मरते हैं!

(पट-परिवर्तन।)

———

तीसरा दृश्य

स्थान—पृथ्वीसिंह का निवासस्थान।

[पृथ्वीसिंह और गंगासिंह।]

पृथ्वी०—ग़नीमत है, सुबह का भटका शाम को भी घर आ जाय तो ग़नीमत है। बड़े-बड़े दिन, लंबी-लंबी रातें, चिकनी-चुपड़ी बातें और टेढ़ी-तिरछी घातें, बहुत कुछ ख़र्च करके आख़िर आज रानी को नवरोज़ के लिए राज़ी कर पाया! सीधे-सादे नहीं, उसमें भी एक शर्त लगी हुई है। कहती हैं, साथ में मेवाड़ी कटार ज़रूर जायगी। इसे कहते हैं अक्ल का अजीर्ण! गुलाबजल के हौज़ में तैरने जायँ और पत्थर साथ बाँधें! नवरोज़—औरतों का महज़ एक छोटा सा मेला और उसमें बाप्पा रावल के ज़माने की इतनी भीषण कटार!—फूलों के गुलदस्तों में ज्वालामुखी का भपका! गुलाब-सागर के किनारे मिरचियों की धूनी!

गंगा—मछलियों के मुँह में धूमकेतु की दुम! चिड़ियों की दुम-में तोप का मुँह! रूपकों की क्या कमी है आपकी दया से!

पृथ्वी०—देखता हूँ, कभी-कभी पीनक में बड़ी दूर की सूझती है।

गंगा०—अच्छा यह सब तो फिर हो सकेगा। पहले एक कविता तो देख लीजिए।

पृथ्वी०—कविता! और इस मौसिम में! तुम्हें भी ख़ूब सूझती है।

(मदारख़ाँ का प्रवेश।)

मदार०—इसमें भी कोई शक है! सावन के अंधे को हमेशा हरा-हरा सूझा ही करता है!

गंगा०—देखिए गुरु जी, घर में पैर दिया नहीं कि बदतमीज़ी शुरू! न-जाने ऐसे उजबक को किस उल्लू ने शायर बना दिया।

मदार०—देखिये उस्ताद! यह 'उल्लू' लफ़्ज़ किसकी तरफ़ जा रहा है!

गंगा०—गुरु-चेलों में लड़ाई करा देना इतना आसान नहीं है, शेख़जी!

मदार०—तो इन-जैसे उस्तादों के पुराने शागिर्दों को उजबक कह देना भी हँसी-ठट्ठा नहीं है जनाब!

पृथ्वी०—यह कवि का घर है बाबा, इसे कुरुक्षेत्र का मैदान न बनाओ! यह युद्ध बंद करो! वीणा की तान से यह मारू मेल नहीं खाता!

मदार०—अच्छा उस्ताद, अपनी कविता सुनाइए। इनकी तो फिर कभी फ़ुरसत के वक़्त देखी जायगी।

गंगा०—फ़ुरसत के वक़्त! आप यह काम-काज का भारी गट्ठर इस आराम की जगह में कहाँ से सिर पर बेतहाशा लादे चले आ रहे हैं, जनाब!

मदार०—तो क्या आपको उस्ताद की कविता बुरी लगती है, साहब!

गंगा—फिर वही ! फिर वही लड़ाई कराने की बातें ! मैं यह कब कहता हूँ ! गुरुजी की कविता तो बड़े भाग्य से सुनने को मिलती है !

पृथ्वी०—अरे भाई, लड़ते हो या कविता सुनना चाहते हो !

गंगा०—नहीं-नहीं ! आप सुनाइए—अवश्य सुनाइए ।

पृथ्वी०—(पोथी खोलकर) अच्छा भाई, नहीं ही मानते हो तो लो, सुन लो । सम्राट् की प्रशंसा में कल सौ सोरठे कहे थे । पहला है (खाँसकर) "अकबर अलि, अँखियान......"

(द्वार खटखटाने की आवाज़ आती है ।)

गंगा०—देखो तो, मदार, कौन है !

मदार०—होगा कोई ! आप जो जाकर देख आएँ !

(गंगासिंह द्वार से दूसरी ओर झाँक कर देखता है, फिर लौट आता है।)

पृथ्वी०—कौन था ?

गंगा०—कोई नहीं । यों ही हवा का झोंका था ।

मदार०—भई वाह ! और कोई नहीं तो बी हवा ही को बैठे-ठाले दिल्लगी सूझी !

गंगा०—हाँ ! आप पढ़ते जाइए गुरुजी ! रुकिए नहीं, ये हज़रत तो सन्निपात के रोगी हैं, बीच बीच में यों ही बोलते जाते हैं ।

मदार०—ज़रा होश में रहिए जनाब, फिर कहे देता हूँ !

गंगा—गुरुजी की कविता सुनते समय भी होश में रखना चाहते हो ! भले आदमी को तो दो चरणों ही में ग़श आ जाता है ! हाँ, बेशरमों की बात ही दूसरी है ।

पृथ्वी०—अरे भाई सुनो भी ! देखो क्या रूपकों की छटा है—
"अकबर अलि, अँखियान......"

(द्वारपाल का प्रवेश।)

द्वार०—अन्नदाता, रानीजी पूजा समाप्त कर चुकीं। चलिए, भोजन कीजिए !

पृथ्वी०—सारी आफ़तें इसी समय फट पड़ने को थीं। रानी भी अजीब हैं। जब मुझे भूख लग रही थी, तब तो उनकी पूजा हो रही थी, अब जब मैं अपनी 'पूजा' शुरू कर रहा हूँ, तब उन्हें भूख लग आई। जाओ ! कह दो, वे पूजा समाप्त कर चुकीं, तो मैं भी कविता प्रारंभ कर चुका, अब सौ सोरठे सुनाए बिना नहीं उठ सकता।

(द्वारपाल का प्रस्थान।)

पृथ्वी०—पृथ्वी के एक छोर से रानी की सृष्टि शुरू होती है और दूसरे छोर से मेरी। गोलाकार पृथ्वी पर कई जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त लट्टू और बेलन की तरह लगातार घूमते और लुढ़कते हुए अब हम दोनों बीच में आ मिले हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न डील-डौल, आकार-प्रकार और चमक-दमक वाले असंख्य नक्षत्र-पिंड किसी प्रबल आकर्षण से हठात् खिंचकर परस्पर निरंतर सटे-से रहा करते हैं, उसी प्रकार हम दोनों के हृदयों का संबंध अनमेल होकर भी अकाट्य है—अविच्छिन्न है।

मदार०—वाह उस्ताद ! उन सोरठों को तो आप बहुत पीछे छोड़ आए !

पृथ्वी०—अरे हाँ ! अच्छा सुनो ! (खाँसकर) "अकबर अलि, अँखियान......"

(नेपथ्य में रानी का गान ।)

जागो जागो हे अनजान !
हे अनजान, हे नादान !
जागो जागो हे अनजान !
देख-देख सोने की कड़ियाँ,
मत समझो वैभव की लड़ियाँ,
भोले बंदी, खोलो अँखियाँ,
आख़िर हैं ये भी हथकड़ियाँ,
बंधन है जिनकी पहचान !
जागो जागो हे अनजान !
हे अनजान, हे नादान !

पृथ्वी०—*लो, पहले यह बड़ी कविता सुन लो । रानीजी अकेली कंधे पर लट्ठ रखे इस भरी-दोपहर में पहरा दे रही हैं, और सब तो घोड़े बेचकर सो रहे हैं । ज़रा अपनी-अपनी आँख मलकर तो देखो भाई !*

(नेपथ्य में पुनः गान ।)

(धीरे-धीरे स्वर समीप आता जाता है ।)

पृथ्वी०—*अरे ! मालूम होता है रानी इधर ही चली आ रही है !* (जल्द-जल्द कविता समेटकर) *अच्छा तो फिर कल सुनाऊँगा । अभी, न-जाने क्यों, इच्छा ही नहीं होती । जाओ, तुम भी जाओ !*

(प्रस्थान ।)

(पट-परिवर्तन ।)

———

चौथा दृश्य

स्थान—प्रताप की राजसभा।

[प्रताप, चन्द्रावत और कुछ अन्य सभासद]

प्रताप—देखा, चंद्रावतजी, मानसिंह को अपनी .गुलामी पर कितना गर्व है ! मेवाड़ के एकमात्र स्वाधीन राजस्थानियों को धमकी दिखाते समय क्या उन्हींकी आत्मा उन्हें लज्जित न कर रही होगी ? हृदय रखते हुए भी कोई इतना पतित कैसे हो सकता है ?

चन्द्रा०—हृदय ! .खुशामदियों के हृदय नहीं होता राणा, .गुलाम के आत्मा नहीं होती ! जिन्होंने सांसारिक सुखों पर निछावर होकर स्वाधीनता को लात मार दी, उन अभागों का हृदय, आत्मा, जीवन, स्वाभिमान, सब कुछ उसी समय नष्ट हो गया । हृदय तो वीरों का भूषण है, स्वाधीनता के तपस्वी साधकों का सर्वस्व है, दरिद्रता में—दुःख में—संकट में—दैन्य में—घुलघुलकर मरते हुए भी जिनका स्वाभिमानी मस्तक नीचा नहीं होता, उन निर्धनों का धन है ! मानसिंह के पास हृदय कहाँ से आया ?

एक सभासद—राणाजी, इस दुर्घटना का परिणाम क्या होगा ?

प्रताप—परिणाम ! क्या तुम्हें अभी तक परिणाम का पता नहीं ? परिणाम वही होगा, जो स्वाधीनता के यज्ञ में सर्वस्व की आहुति देनेवाले सैनिकों का होता है ! मैंने जान-बूझ कर रणचंडी-का आह्वान किया है ! परिणाम क्या होगा ? स्वाधीन मेवाड़ के गौरव-की रक्षा के लिए जो कुछ होना शेष है वही होगा ! आज मैंने जान-

बूझकर मेवाड़ के मुकुट को निर्जन क्यों बना रखा है, चित्तौड़ के हृदय का दीपक क्यों बुझवा दिया है, उसके भवनों को खँडहर क्यों बना दिया है, शस्य-श्यामला जन्मभूमि को भयानक वन का रूप क्यों ग्रहण करा रखा है, दुर्गों और प्रासादों की लालसा छोड़कर वनों में मारा-मारा क्यों फिर रहा हूँ, जानते हो वीर, आज मैं स्वेच्छा से सारे संकटों को गले क्यों लगा रहा हूँ ?--केवल मेवाड़ के गौरव-की रक्षा के लिए ! फिर क्या चिंता है, यदि इस यज्ञ में एक 'स्वाहा' और बोली जाय, अभी तो आहुति के लिए हमारे पास बहुत कुछ शेष है ।

चंद्रावत—राणा उदाराशय हैं । आप से यही सुनने की आशा थी । आज आक्रांता मुग़ल देखें कि छल से चित्तौड़ को हस्तगत कर के भी वे मेवाड़ का गौरव नष्ट नहीं कर सके हैं । उसका गौरव आज भी राणा प्रताप के उन्नत मस्तक के रूप में सुरक्षित है । जब तक राणा के लाल-लाल नेत्र सम्मुख हैं, स्वतन्त्र मेवाड़ के गौरव को वक्र-दृष्टि से देखने का साहस संसार की कुटिल से कुटिल आँखों में भी नहीं है ।

(द्वारपाल का प्रवेश ।)

द्वारपाल—महाराणा की जय हो । गुप्तचर आवश्यक संवाद लाया है ।

प्रताप—उपस्थित करो ।

(गुप्तचर का प्रवेश ।)

गुप्त०—महाराणा ! अकबर की फ़ौज मेवाड़ की ओर चल पड़ी है । मानसिंह, सलीम और शक्तसिंहजी भी साथ हैं । (प्रस्थान ।)

प्रताप—सच कहते हो, कृष्णजी, रणचंडी हमारी प्रतीक्षा कर रही है। वीरो आओ, हम आक्रमणकारी अकबर को दिखा दें कि किस प्रकार बलिपंथी मेवाड़ी सैनिक मातृ-भूमि के लिए आठों पहर हथेली पर सिर लिए रहते हैं। जब तक हम में से एक की भी नसों-में रक्त है, देह में प्राण हैं, तब तक मेवाड़ के गौरव की ओर कोई उँगली नहीं उठा सकता। मानसिंह! मानसिंह! देखो, तुम भी देखो कि अंबर और मेवाड़ के पानी में कितना अंतर है!

दूसरा सभासद—आदेश दीजिए, राणा, सेना की रचना किस प्रकार की जाय? युद्ध-क्षेत्र किसे बनाया जाय?

प्रताप—हल्दीघाटी से बढ़कर स्थान हमें न मिलेगा। बहादुरो, चलो, मेवाड़ की स्वाधीनता के शत्रुओं को घाटी में घेरकर उनके दाँत खट्टे कर दिए जायँ। हम उन्हें दिखला दें कि पहाड़ी मेवाड़ियों की तलवार का पानी कितना तेज़ है। मेरे प्यारे साथियो, आज मेवाड़ की आन का युद्ध है। देखो, जब तक प्राणों का एक भी कण सजीव है, राजस्थान की शान में बट्टा न लगने पाय! चलो युद्ध की तैयारी करें। आज आनन्द का दिन है!

चंद्रावत—वीरो, आज आनन्द का दिन है। सैनिक के लिए रण-वार्ता से बढ़कर आनन्द स्वर्ग में भी नहीं है। आज इन तलवारों की बरसों की पिपासा शांत होगी। सपूतों का बलिदान देखकर माँ प्रसन्न होगी। स्वर्ग में देवता आरती उतारेंगे। रणचंडी-की छाती ठंढी होगी! (सब तलवारें निकालते हैं।)

प्रताप—वीरो, आओ, आज एकस्वर से कोई बलिदान-गान गावें। गाओ वीरो!

(सब का गान ।)

हे विश्वंभर, भीमभयंकर, शंकर हे! प्रलयंकर हे!!
कोटि-कोटि कंठों में गूँजे
तेरा भैरव-गान।
टूट पड़ें वसुधा के बंधन,
जाग उठें जड़ प्राण,
जाग्रत कर, कण-कण में साहस भर हे! तमहर हे!
हे विश्वंभर, भीमभयंकर, शंकर हे! प्रलयंकर हे!!
नेत्र तीसरा खोल नृत्य कर,
कालकूट कर पान,
फिर तांडव की ताल-ताल पर
हों अगणित बलिदान!
खड्ग प्रखर, मस्तक चिर-उन्नत कर हे! भयहर हे!
हे विश्वंभर, भीमभयंकर, शंकर हे, प्रलयंकर हे!!

(सबका गाते-गाते तथा तलवार घुमाते हुए प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन ।)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—दिल्ली । मार्ग ।

[पृथ्वीसिंह का प्रवेश ।]

पृथ्वी०—इतना अत्याचार! इतना अन्याय! इतना अंधेर! अकबर! मैं नहीं जानता था कि तू इतना भयंकर है, इतना पतित है, इतना ढोंगी है! उफ़! सोने के पात्र में कालकूट विष—मख़मल के म्यान में मीठी छुरी! स्वतन्त्रता के नाम पर यह सर्वस्व-हरण!

कला के नाम पर व्यभिचार ! अबलाओं पर अत्याचार ! नवरोज़ के नारकीय कीड़े ! तू मुझ पर ही हाथ साफ़ करने चला था। पर, याद रख इस आक्रमण से तूने मेरी आँखें खोल दी हैं। सोते सिंह को ठोकर मारकर जगा दिया है ! सावधान ! यह भोला-भाला कवि अब तेरे ही हथियारों से तुझे हराएगा। (प्रस्थान।)

(अकबर का प्रवेश। अर्ध-विक्षिप्त अवस्था, वस्त्र और बाल बिखरे हुए।)

अकबर—अकबर ! अकबर ! दुनिया भर को धोखा देनेवाले अकबर ! इस दफ़ा तूने कितना बड़ा धोखा खाया—काली नागिन-को रेशमी रस्सी समझकर पकड़ लिया ! उफ़ ! दो-दो हथियार ! अपने लिए अँगूठी का ज़हरीला नगीना और दुश्मन के लिए करारी कटार ! राजपूतों की औरतें मामूली औरतें नहीं होतीं ! नौरोज़ ! शाहंशाह अकबर की सफ़ेद चादर के काले दाग़ ! तूने आज मेरी सारी शानोशौकत धूल में मिलवा दी ! आज मैंने अच्छी तरह जान लिया कि पाकदामन औरतें दुनिया की दौलत के ताज-पर किस तरह नफ़रत की ठोकर मारती हैं ! प्रताप ! प्रताप ! तुम्हारे घराने की बेटियाँ भी इतनी बहादुर होती हैं ! और पृथ्वी-सिंह ! पृथ्वीसिंह, तुम भी ऐसी बहादुर औरत पाकर निहाल हो गए ! आह ! कितना खौफ़नाक़ वाक़या था—याद आते ही अब भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मैंने उस दिलेर औरत को मेले में बुलाकर नाहक़ छेड़ दिया—साँप के बिल में हाथ डाला ! ओफ़ ! उन आँखों में कितनी तेज़ रोशनी थी ! चार आँखें होते ही मेरी आँखें चकाचौंध के मारे अंधी हो गईं ! ओह, उस कटार में कितना पानी था, ज़रा आगे हाथ बढ़ाते ही बीच में बिजली की तरह चमक गई।

मेरे हाथ-पैर, न-जाने, किस जादू से बँध गए ! उसके एक ही इशारे-पर मैंने गिड़गिड़ाकर—माँ कहकर—माफ़ी माँग ली। मेरी आँखें भर आईं, सर उसके क़दमों पर झुक गया ! वाक़ई वह माँ थी ! ग़ज़ब थी, सितम थी, क़हर थी, बिजली थी, बला थी, जादू थी, तूफ़ान थी, आग थी, कुछ न थी, कुछ न थी, माँ थी, माँ थी !

(प्रस्थान ।)

(पट-परिवर्तन ।)

छठा दृश्य

स्थान—युद्ध-भूमि, हल्दीघाटी ।

(चन्द्रावत क्षत-विक्षत योद्धा के वेश में ।)

चन्द्रावत—सर्वनाश निकट है ! स्वतंत्र मेवाड़ का सौभाग्य-सूर्य अस्त हुआ चाहता है, चारों ओर मुग़ल-सेना बादलों की तरह छाई हुई है। बीच में अकेले बलिदानी वीर प्रतापसिंह प्राणों की बाज़ी लगाकर दोनों हाथों से तलवार चला रहे हैं। हज़ारों नर-मुण्डों से हल्दीघाटी पाट देने पर भी विजय की आशा व्यर्थ है।

(एक सभासद का रणवेश में प्रवेश।)

सभासद—सरदार, महाराणा के शरीर में अगणित घाव हो गए हैं, रक्त की धारा निकल रही है, तलवार चलाते-चलाते दोनों हाथ थक गए हैं। चेटक घोड़ा मृतप्राय हो गया है, राणा फिर भी पागलों-की तरह लड़ रहे हैं। इस विकट समय पर हमें क्या आज्ञा है ?

चंद्रा०—कुछ नहीं ; राणा के साथ-साथ युद्ध करते जाओ—लड़ते-लड़ते मर जाओ ! मैंने उपाय सोच लिया है।

(सभासद का प्रस्थान ।)

चन्द्रा०—चित्तौड़! जन्मभूमि! प्रणाम! तुम्हारा यह तुच्छ सेवक आज विदा लेता है। माँ, जीते जी तुम्हें स्वतंत्र न देख सका, अब मरकर देखने की अभिलाषा है। अपने भग्नावशेषों के हाहाकारमय स्वर से एक बार आशीर्वाद दो, माँ, हँसते-हँसते मरने की शक्ति प्रदान करो! जीवन के अन्तिम क्षणों में कर्तव्य-पालन करने-का अवसर दो! जिस राज-मुकुट को इन हाथों ने, तुम्हारे हित के लिए, विलासी जगमल के सिर से उतारा था, उसी को ये फिर तुम्हारे ही हित के लिए वीरवर प्रताप के मस्तक से उतारेंगे। तुम्हारे सम्मान की रक्षा के लिए—आशा-लता को कुचलने से बचाने के लिए—आज महाराणा प्रताप के बदले यह चंद्रावत प्राणों की आहुति देगा।

(प्रताप का रणोन्मत्त वेश में उधर से गुज़रना।)

प्रताप—बस, समय हो गया। साधन चुक गया, अब प्राणों की बारी है। माँ के लिए जीवन-बलिदान—

चंद्रा०—मेवाड़ के प्राण! सैनिक के रहते सेनानी का बलिदान! राणा के प्राणों का मूल्य है मेवाड़ का सम्मान—चित्तौड़ का उद्धार! इतने सस्ते नहीं हैं, ये प्राण! इन प्राणों में संजीवनी शक्ति है, राणा! ये मुझ जैसे एक नहीं, हज़ारों चंद्रावत इंगित-मात्र से उत्पन्न कर सकते हैं। आप विधाता हैं, हम सृष्टि। अपने बदले हमें मरने दो राणा! मैंने ही ये राजचिह्न आपके मस्तक पर रखे थे, मैंने ही यह तेजस्वी तलवार आपके हाथ में दी थी। मैं ही अब इन्हें वापस माँगता हूँ। दो, जल्द दो राणा, अब समय नहीं है। क्या दान दोगे?

प्रताप—क्यों न दूँगा कृष्णाजी! आप प्रजा के प्रतिनिधि हैं—

पूज्य हैं । ये निधियाँ आपकी हैं ! आप ले जा सकते हैं, पर मातृ-भूमि के स्वाधीनता-यज्ञ में चुप-चाप प्राणों की आहुति देने से इस दरिद्र प्रताप को आप कैसे रोक सकेंगे ? मैं निश्चय कर चुका हूँ, सरदार, मैं मरूँगा, देश के लिए मरूँगा, रण से पीठ दिखाकर कलंक-का टीका लगवाने के पहले इन प्राणों को माँ के चरणों पर हँसते-हँसते उत्सर्ग कर दूँगा।

चंद्रावत—साथ ही मेवाड़ के भविष्य को भी सदा के लिए मिट्टी-में मिला देंगे। महाराणा ! आप के बाद मुझे ऐसा कोई वीर नज़र नहीं आता, जो चित्तोड़ के उद्धार के लिए इतना त्याग कर सके ! हठ न करें, देव, आप स्वदेश की आशा हैं ! आपका यह क्षणिक हठ मेवाड़ की अखंड पराधीनता का कारण हो जायगा !

प्रताप—निश्चय कर चुका हूँ, चंद्रावतजी, जीतेजी रण से विमुख न हूँगा। सैनिक परिस्थितियों का दास नहीं, स्वामी होता है। आप ये अपनी निधियाँ लीजिए ! मेवाड़ के महाराणा ने देश के लिए एक सामान्य सैनिक के वेश में मरना ख़ूब सीखा है।

(फुरती से तलवार पर मुकुट रखकर चले जाते हैं।)

चन्द्रा०—प्रभो ! राणा की रक्षा करो ! (मुकुट हाथ में लेते हैं) आ ! काँटों के ताज ! संकट के स्नेही ! मेवाड़ के राजमुकुट ! आ ! तुझे आज एक तुच्छ सैनिक धारण कर रहा है ! इसलिए नहीं कि तू वैभव का राजमार्ग है, बल्कि इसलिए कि आज तू देश पर मर-मिटनेवालों का मुक्ति-द्वार है ! आ, मेरी साधना के अन्तिम साधन ! इस अवनत मस्तक को माँ के लिए कट-मरने का गौरव प्रदान कर।

(मुकुट पहनकर प्रस्थान।)

(शक्तसिंह का प्रवेश ।)

शक्त—(नेपथ्य की ओर इंगित करके) घोर युद्ध हो रहा है ! ऐं ! चंद्रावत ने मेवाड़ का राज-मुकुट पहन रखा है ! मुग़लों ने उसे प्रताप समझ कर चारों ओर से घेर लिया है ! और वह राणा ! एक सामान्य सैनिक के वेश में पागलों की तरह घनघोर युद्ध कर रहे हैं ! अरे, क्या इनके लिए राजमुकुट का कुछ भी मूल्य नहीं है ! हाय, अभागे शक्त, तूने प्रताप को नहीं पहचाना ! इतना त्याग ! इतनी वीरता ! ऐसा संग्राम ! मानो प्राणों की ममता छू भी नहीं गई है ! ऐं यह क्या ! उनके घोड़े ने पीठ फेर दी ! हाय अभागा चेटक ! राणा को रण से लेकर भाग रहा है ! सर्वनाश ! राणा लगाम खींच रहे हैं, फिर भी दुष्ट रुकता ही नहीं ! हाय, यह उधर दूसरा वज्रपात ! चंद्रावत को मुग़लों ने प्रताप समझ-कर मार डाला ! धन्य चंद्रावत, धिक् शक्तसिंह, मेवाड़ियों में केवल तू ही नराधम है ! सैनिक का जन्म पाकर भी तेरे भाग्य में ऐसी मृत्यु नहीं बदी थी ! (शोकाकुल होता है ।)

(दो मुग़लों का प्रवेश ।)

एक मुग़ल—अरे म्याँ, कुछ ख़बर भी है ! बंदे भाँप गए ! वह देखो मग़रूर प्रताप भागा जा रहा है !

दूसरा मुग़ल—ऐं-ऐं प्रताप ! क्या कहते हो भाई जान !

पहला मुग़ल—अरे म्याँ, देखो भी, यों आँखें क्या फाड़ रहे हो, मुँह क्या बना रहे हो ?

दूसरा मुग़ल—(नेपथ्य की ओर ग़ौर से देखकर)---हाँ, हाँ, मालूम तो कुछ ऐसा ही होता है ।

पहला मुग़ल—चलो, जल्द उसे पीछे से तीर मार कर गिरा देंगे, फिर बाँधकर—क़ैद करके—शाहज़ादा साहब को नज़र करेंगे और मारे इनामों के मालामाल हो जाएंगे। (प्रस्थान।)

शक्त—लेकिन इसके पहले ही दोज़ख़ चले जाएँगे। कमीने कुत्ते घायल शेर पर दूर से ढेला फेंकना चाहते हैं। तलवार के एक ही वार में दो के चार हो जाएँगे, इसका पता ही नहीं! शक्तसिंह, अभागे शक्तसिंह, अब भी समय है। इन कुत्तों को राह ही में खपाकर, प्रताप के प्राण बचाकर, मातृभूमि मेवाड़ का कुछ हित-साधन कर ले! हृदय बोल, बहुत दिनों में जी भर कर बोल, प्यारा बोल, पुराना बोल, जय मेवाड़! (प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन।

सातवाँ दृश्य

स्थान—वन।

[प्रताप अकेले शोकाकुल बैठे हैं।]

प्रताप—चेटक! प्यारे चेटक! तुम राह ही में चल बसे! तुम्हारी अकाल मृत्यु देखने के पहले ही ये आँखें क्यों न सदा को मुँद गईं! मेरे प्यारे सुख-दुख के साथी, तुम्हें छोड़कर मेवाड़ में पैर रखने को जी नहीं करता! शरीर का रोम-रोम घायल हो गया है, प्राण कंठ में आ रहे हैं, एक क़दम भी चलना दूभर है, फिर भी इच्छा होती है कि तुम्हारे शव के पास दौड़ता हुआ लौट जाऊँ। तुमसे लिपटकर जी-भरकर रो लूँ और वहीं चट्टानों से सर टकरा-टकराकर प्राण दे दूँ! अपने प्राण देकर प्रताप के प्राण बचानेवाले

मूक प्राणी ! तुम अपना कर्तव्य पूरा कर गए । पर, मैं संसार में मुँह दिखलाने लायक़ न रहा ! हाय, मेरे पापी प्राणों से तुमने किस दुर्दिन-में प्रेम करना सीखा था ! चेटक, चेटक, प्यारे चेटक !

(विकल होकर आँखें मूँद लेते हैं ।)

(दोनों मुग़लों का प्रवेश ।)

पहला मुग़ल—यार, कितने तीर मारे, मगर इसकी पीठ में एक भी न लगा ! मग़रूर ने पीछे फिर कर भी न देखा ! राह में घोड़ा मर गया, तो पैदल ही यहाँ तक चला आया ! चलते में निशाना ठीक नहीं बैठता ! इस वक़्त थककर बेहोश हो गया है । हाँ, लगाओ तो यार, एक हाथ कसकर ।

दूसरा मुग़ल—इस मुर्दे पर मैं क्या हाथ उठाऊँ ? तुम्हीं काफ़ी हो ! हाँ, लगाओ तो पट्टे एक हाथ सपाटे का । फिर जल्द चल कर इनाम पायँ ।

(शक्त का प्रवेश और प्रहार करना ।)

शक्त—या दोजख़ जायँ ! बुज़दिलो, सोता हुआ मेवाड़ी शेर भी तुम-जैसे गीदड़ों के दिल दहला देने को काफ़ी है ! इस बुरे वक़्त में भी इस पर हाथ उठाने की हिम्मत तुम-जैसे बुज़दिलों में नहीं हो सकती !

(मुग़लों की मृत्यु ।)

शक्त—राणा प्रताप ! महाराणा प्रतापसिंह !

प्रताप—(आँखें खोलकर) कौन ? ऐं शक्तसिंह ! तुम यहाँ क्यों आए ? क्या बदला लेने ! अब प्रताप वह प्रताप नहीं रहा भाई ! अब इससे बदला लेकर तुम्हारी भीषण प्रतिहिंसा शांत न होगी । बदला ही लेना था तो समर में लेते, जब प्रताप राणा प्रताप न

सही—एक सशक्त सिपाही तो था ! अब क्या रखा है ! किन्तु, नहीं, तुम्हें प्रतिहिंसा की प्रबल प्यास जो लग रही होगी ! अच्छा लो, शक्तसिंह, बदला लोगे ? पथ के भिखारी प्रताप से बदला लोगे ? तो, लाओ, रण से विमुख प्रताप के कायर हृदय में अंत समय, प्यारी मेवाड़ी कटार भोंक दो ! बड़ी शांति से मरूँगा शक्त, जल्दी करो ! विलंब हो रहा है !—हाँ, निकालो कटार ! बदला लो, बदला लो ! इस पापी प्रताप का अब मरना ही हितकर है ।

शक्त—वज्रपात है भैया, इस कुसमय में, मेवाड़ के नेता के बहुमूल्य प्राणों पर उँगली का भी आघात वज्रपात है ! कौन कहता है, प्रताप पापी है, कौन कहता है, प्रताप कायर है ? प्रताप वीरों का आदर्श है, भारत का अभिमान है, राजस्थान की शान है और मेवाड़ियों का प्रखर प्रकाशवान् भानु है !

प्रताप—क्या कह रहे हो शक्त ! तुम्हारे मुँह से ये बातें नवीन मालूम होती हैं !

शक्त—यह मेरा दुर्भाग्य है भैया ! मेरे पापों का कड़वा फल है । मैं मेवाड़ को भूल गया था, भारतीयता को खो बैठा था, देशभक्ति को ठुकरा चुका था, स्वाभिमान को तिलांजलि दे चुका था, उसी का यह दंड है । कहो, हाँ ख़ूब कहो, ऐसी ही हृदय-वेधक बातें और कहो, भाई, अपराधी को ख़ूब दंड मिलने दो । बिना प्रायश्चित्त पूरा हुए पापी की आत्मा को शांति नहीं मिलती !

प्रताप—फिर वही बातें ! शक्तसिंह, तुम्हारे स्वभाव में अचानक अन्तर कैसे हो गया ?

शक्त—आँखें खोलकर मेवाड़ी वीरों का बलिदान देखने

से। इस युद्ध ने कान मलकर मुझे बता दिया कि मेरा अहंकार व्यर्थ है, मुझ से कई-गुनी वीरता, कई-गुनी देश-भक्ति और कई-गुना त्याग मेवाड़ के एक-एक सैनिक के हृदय में हिलोरें ले रहा है। और आप! आप तो देव हैं भैया! मेवाड़ के सौभाग्य से यहाँ जन्म ले आए हैं। आपकी यह क्षत-विक्षत देह और प्राणों की ममता छोड़कर भीषण संग्राम! आश्चर्य होता था भैया, और श्रद्धा उमड़ी पड़ती थी! इच्छा होती थी, तुम्हारे चरणों पर सिर रख कर समरांगण में सदा के लिए वीरों की नींद सोया जाय! भैया, क्या तुम मुझे क्षमा न करोगे? मेवाड़ को फिर एक बार बड़े प्यार से माँ कहने का अधिकार न दोगे? भैया मुझे क्षमा करो!

प्रताप—क्षमा! क्षमा कैसी भाई! भ्रातृ-प्रेम का निर्मल झरना विद्वेष की शिला से नहीं रुक सकता! तुम्हारे एक 'भैया' सम्बोधन-पर लाखों क्षमा निछावर हैं भाई! पुकारो तो शक्ति, पुकारो तो भैया, एक बार मुझे फिर प्यार से 'भैया' कहकर पुकारो तो!

शक्त—भैया, भैया मेरे! (रोते-रोते पैरों पर गिर पड़ना।)

प्रताप—(उठाकर) आओ शक्त! आओ भैया! बरसों बाद गले मिलकर रो लें। संसार में, सारे साथी छूट जाने के बाद भाई-भाई का मिलना विशेष सुखकर होता है। (गले मिलते हैं।)

[पटाक्षेप।]

———

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—कमलमेर।

[प्रताप और सामंत।]

सामंत—महाराणा!

प्रताप—मत कहो "महाराणा"! हल्दीघाटी के संग्राम में सर्वस्व खोकर, माथे पर अक्षय कलंक का टीका लगवाकर, वन-वन भटकनेवाले अभागे से मत कहो "महाराणा"! उफ़, इस बार मैंने क्या-क्या नहीं खोया! चंद्रावत! त्यागियों का आदर्श चंद्रावत! मेरे लिए खेल-खेल में मर-मिटा! उसकी याद आते ही हृदय में ज्वाला उठती है! सेना नहीं, कोष नहीं, दुर्ग नहीं, शस्त्र नहीं, भूमि नहीं, आज इस सर्वस्व-हीन प्रताप के अस्थिर जीवन में महाराणापन का कौन-सा चिह्न शेष है! सब कुछ नष्ट हो चुका, असंख्य योद्धा खप गए। चित्तौड़ के उद्धार के पहले ही, मेवाड़ की रक्षा के पहले ही, मेवाड़ियों का गौरव लुट गया, प्रताप के माथे पर कायरता का कलंक लग गया। फिर क्यों कहते हो "महाराणा"? प्रताप आज हारा हुआ सिपाही है, पथ का भिखारी है!

सामंत—फिर भी संसार-भर के शूरों की श्रद्धा का अधिकारी है। प्रताप का महाराणापन क्षणभंगुर दुर्गों और प्रासादों में नहीं है—प्रताप का महाराणापन अस्थिर युद्धों और दो दिन की विजय-दुंदुभियों में नहीं है। प्रताप की अक्षय देशभक्ति, प्रताप का अखंड स्वाधीनता-प्रेम, प्रताप की अमर वीरता, प्रताप का अटल स्वाभिमान, प्रताप का

उज्ज्वल त्याग, प्रताप का प्रखर आत्मबलिदान और प्रताप की कठोर तपस्या ही प्रताप का महाराणापन है। देव, आपकी दरिद्रता का एक-एक कण आज संसार-भर के धनियों की आँखों में चकाचौंध पैदा कर रहा है। मेवाड़ के स्वाधीनता-प्रेमी महाराणा की यह अनोखी शान आज समूचे राजस्थान के अभिमान का कारण है!

(एक सैनिक का प्रवेश।)

सैनिक—वज्रपात हो गया राणा! मुग़लों से घिरे हुए कमलमेर की रसद तो चुक ही चली थी, आज शत्रुओं ने उसके एकमात्र जलाशय में भी ज़हर मिलवा दिया। अब कैसे रक्षा हो? क्या हमें प्यास से तड़प-तड़प कर प्राण दे देने पड़ेंगे?

प्रताप—कदापि नहीं। मेवाड़ी वीर कायरों की तरह नहीं मरा करते। जाओ सैनिक, बचे हुए साथियों की प्यास आज जल से नहीं, शत्रुओं के उष्ण-रक्त से बुझेगी। लड़ते-लड़ते मरने ही में स्वदेश-के सच्चे सैनिकों का गौरव है। प्रताप आज जीवन और मरण की अंतिम वार परीक्षा करेगा। जाओ, सामंत तुम भी जाओ। बिखरे हुए बचे-खुचे वीरों को सांत्वना दो। वीर-व्रत का प्रबन्ध करो!

(सामंत और सैनिक का प्रस्थान।)

प्रताप—जगन्नियंता की क्या यही इच्छा है? अच्छा है। जो कुछ हो रहा है, अच्छा है। पल-पल पर मृत्यु से मुठभेड़ करने में भी एक आनन्द है, जीवन और मरण के इस संधिस्थल पर भी एक सुख है। अच्छा तो फिर विलंब क्यों? जय मेवाड़!

(जाना चाहते हैं।)

(मुग़लों की एक टुकड़ी का प्रवेश।)

मुग़ल—पकड़ लो, बाँध लो। जाने न पाय। यही है मग़रूर प्रताप, यही है मेवाड़ की हेंकड़ी, यही है आज़ादी की अकड़, यही है बहादुरी की दुम !

प्रताप—तुम ! तुम मुझे पकड़ोगे ? मूर्खों, जब तक यह तलवार इन हाथों में है इस शरीर के एक रोम का भी स्पर्श तुम्हारे लिए मृत्यु-का स्पर्श है ! सावधान ! (प्रहार।)

[एक की मृत्यु, औरों का पलायन। दूसरे ही क्षण, चारों ओर से कोलाहल, "लेना, पकड़ना, मारना" की ध्वनि।]

प्रताप—प्यारी तलवार ! सँभल, शत्रु समीप आ रहे हैं। तेरी सहायता का शायद यही अंतिम अवसर हो। मृत्यु से आठों-पहर हाथापाई करनेवाले सैनिकों का तेरे सिवा और कौन सहचर हो सकता है ! किसमें इतना साहस है ? (रणोत्सुक।)

(शीघ्रता से कुछ भीलों के साथ भीलराज का प्रवेश।)

भीलराज—निश्चिंत रहें महाराणा ! आप हमारे अतिथि हैं। आप उस प्यारे मेवाड़ के रक्षक हैं, जिसके अन्न-जल से हमारी नस-नस सिंची पड़ी हैं। आपकी तपस्या के चरणों पर हम आज अपना हृदय चढ़ाते हैं। विश्वास रखिए, इस पहाड़ी भील-जाति की धमनियों-में रक्त की एक बूँद भी शेष रहते मुग़ल मेवाड़ की ओर आँख उठाकर नहीं देख सकते।

प्रताप—धन्य हो तुम, मेरे संकट के साथी ! मेवाड़ का बच्चा-बच्चा तुम्हारी इस सामयिक सहायता के लिए सदैव कृतज्ञ रहेगा ! मेवाड़-के लिए तुम्हारे हृदय में इतना प्रेम है ! आज से तुम मेरे शरीर ही के नहीं—आत्मा के भाई हो। (गले लगाते हैं।)

भील०—स्वदेश के रक्षक की रक्षा के लिए सर्वस्व निछावर करने-में हम भीलों का गौरव है।

प्रताप—मेरी रक्षा! मेरी रक्षा की चिंता न करो भीलराज! तलवार हाथ में लेते ही सैनिक प्राणों की चिंता छोड़ देते हैं। तुम्हें यदि मेवाड़ को अपना चिर-ऋणी बनाना है, तो जाओ, रानी और उसके दुध-मुँहे बच्चों की रक्षा का प्रबन्ध करो।

भीलराज—मेवाड़ की महारानी और बाप्पारावल के वंश के दीपक आज-से हमारे हृदय के दीपक बनेंगे। और आप! आपके इशारे पर सिर दे देना तो हम सब लोग एक खेल समझते हैं।

(प्रस्थान।)

प्रताप—अब प्रताप निश्चित है। सावधान! सिंह की माँद पर घेरा डालनेवाले गीदड़ो, सावधान! प्रताप अभी तुम्हारी छाती फाड़-कर बाहर निकलता है। (प्रस्थान।)

[पट-परिवर्तन।]

दूसरा दृश्य

स्थान—गंगासिंह का घर।

[गंगासिंह का प्रवेश।]

गंगा—काव्य और अफ़ीम दोनों का पुरुष और स्त्री का-सा—दामन और चोली का-सा संबंध है। पहले के बिना दूसरी लँगड़ी पड़ जाती है और दूसरी के बिना पहला फीका रह जाता है। जिस युग में जो जाति केवल कविता करने लगती है, उसमें उसे अफ़ीम खानी पड़ती है और जिन दिनों जो देश अफ़ीम खाने लगता है, उसे

उन दिनों कविता सूझती है । यह अन्योन्याश्रय अलंकार हुआ या शुद्धसंगति, गुरुजी होते और दीख पड़ते, तो उनसे पूछ लेता। पर, यह स्वयंसिद्ध बात है कि साहित्यिक विप्लव के लिए अधमुँदी पलकों और निरुद्देश्य दृष्टि की आवश्यकता होती है—उस दृष्टि की जिससे अंतरंग-ही-अंतरंग नज़र आता है—बाहरी दुनिया की ओर से बस एकदम बंद ही हो जाती है। मैंने—(अपनी ओर इंगित करके) इस मैंने—इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया है । (आँखें बंद करके चलता है, ठोकर लगकर फ़र्श पर दावात की स्याही फैल जाती है।)

गंगा०—लो, हो गया विप्लव ! डूब गई दुनिया !

(बैठकर काग़ज़ से समेट-समेट कर स्याही दावात में भरता है।)

(मदारख़ाँ का प्रवेश)

मदार०—अल्लाह ! यह क्या हो रहा है हज़रत ?

गंगा०—कुछ नहीं । यूँ ही ज़रा समुद्र सोख रहा था । इस भोला-जैसा नौकर भी बड़े भाग्य से मिलता है । दावात में स्याही क्या भरता है, गागर में सागर भर देता है । कविता के भावों का तूफ़ान-चरण-कमलों में भरकर जब मैं इधर से गुज़रता हूँ, तब कभी-कभी इसमें बाढ़ आ जाती है । बस फिर क्या है, सारा घर न सही, एकाध कोना तो डूब ही जाता है।

मदार०—अच्छा तो आप समंदर सोख रहे हैं ? इसके पहले भी आप लोगों के अंडज…पिंडज…मुंडज…कुंडज…कुंभज या न-जाने उस्ताद ने उस दिन क्या नाम बताया था—रिसी ने एक बार समंदर सोखा था, अब शायद उनकी रूह आप में उतर आई है !

गंगा०—होगी । रामचन्द्रजी के समय में आपके बुज़ुर्ग नीले

समुद्र को लाँघ गए थे, अब अकबर के ज़माने में आप इस काले समुद्र को लाँघकर इस पार आइए और नए हाल-चाल सुनाइए।

मदार०—हाल-चाल क्या तुमसे छिपे हैं ! उस्ताद को, देखते ही हो, आजकल न-जाने क्या हो गया है। शायरी के पानी में बहादुरी की आग लग गई है। क़लम के डंक तराशना छोड़कर तलवारों पर हाथ साफ़ किया करते हैं। दिल तो टूट ही चुका है, बड़ी-बड़ी बाँकी क़लमें भी टूटी पड़ी हैं। दिमाग़ तो ख़ाली हो ही चुका है, दावात भी सूखी पड़ी है। काग़ज़-पत्तरों को चूहे चख-चखकर चूरन बना रहे हैं। किताबों पर दीमक बेढब तसवीरें खींचा करती है। बैठक में उल्लू बोलता है।

गंगा०—भाई, सच पूछो तो ज़माने के उलटफेर को चुपचाप पेट पर हाथ रखकर सहते रहने ही में आजकल ख़ैर है, नहीं तो भलामानस कहीं का नहीं रहता !

मदार०—पर, उसके लिए जिस संजीदगी—जिस ज़ब्त की ज़रूरत है, वह कैसे मुमकिन हो सकता है ?

गंगा—मस्ती से।

मदार०—और मस्ती ?

गंगा०—वह पुश्तैनी नुस्ख़ों से हासिल होती है जनाब ! वह कोई बाज़ारू चीज़ नहीं है। हमें ही देखो, 'अपने' में कैसे मस्त रहते हैं। दुनिया इधर-से-उधर क्यों न हो जाय, कभी कान तक नहीं हिलता। मगर, यार इस बार गुरुजी के साथ हम भी उस ख़तरनाक लहर में बह गए होते, अगर एक सहारा न होता ?

मदार०—वह क्या ? वह क्या ?

गंगा०—वही हमारे बाबा का बताया हुआ नुस्ख़ा ।

मदार०—आख़िर उसका कुछ नाम-धाम, पता-ठिकाना ?

गंगा०-- ईश्वर उनकी आत्मा को स्वर्ग में मस्ती दे, बेचारे ने मुझे बड़े कष्ट से पाला था। इतने कष्ट से कि जब उसकी याद आती है, तब आज भी सिर्फ़ रोंगटे ही नहीं, सिर के बाल तक खड़े हो जाते हैं।

मदार०—अरे यार, उड़ो मत। पहले वह नुस्ख़ा बताओ।

गंगा०—हाँ, हाँ, सुनते चलो। तो उस बेचारे ने मुझे बड़े कष्ट से पाला था, क्योंकि मेरे माता-पिता तो (करुण स्वर में) मेरे पैदा होने के पहले ही मर गए थे।

मदार०—यह रोना-गाना तो रहने दो, पहले सीधे से वह नुस्ख़ा बता दो।

गंगा०—यहाँ तक कि मुझे उनकी शक्ल-सूरत, बोली-चाली, चाल-ढाल, कुछ भी याद नहीं।

मदार०—हटो जी, यह कहाँ का क़िस्सा सुनाने लग गए।

गंगा०—सुनते जाओ, सुनते जाओ। हाँ, तो बेचारे बाबा ने उस ग़रीबी की हालत में मेरे लिए असली राजपूत होते हुए भी एक गड़रिए की नौकरी की। उसके १५ भेड़ें और १२ बकरियाँ थीं। लंबे-लंबे ऊनवाली, छोटे छोटे सींगवाली।

मदार०—बस रहने दो यह दिल्लगी। मेरे पास इतना वक़्त नहीं कि तुम्हारी यह भाट की पगड़ी या शैतान की आँत-जैसी कहानी सुनता रहूँ। दिन-भर बैठे-बैठे इन दीवारों को सुनाया करना!

गंगा०—अकड़ते क्यों हैं जनाब! एक तो मैं आपको मस्ती का

बुज़ुर्गी नुस्ख़ा बतलाऊँ, ऊपर से आप मुझे ये खरी-खोटी सुनाएँ। जाइए, कहीं जाकर जूतियाँ चटखाइए या तुकबंदियों के कौए उड़ाइए। यहाँ तो एक नुस्ख़े में मालामाल हैं। बड़े-बड़े बादशाह भी अगर एक बार इसका मज़ा ले लें, तो मुझे उस्ताद मानने लगें।

(मदारख़ाँ का प्रस्थान। गंगासिंह अफ़ीम की गोली निकालता है।)

गंगा०—जाओ मियाँ मिट्ठू, तुम क्या जानो इस पुश्तैनी नुस्ख़े-का मज़ा। तुम अगर बंदर हो, तो यह अदरक है! यह एकदम ख़ान-दानी है—ख़ानदानी! इसके एक-एक अक्षर में एक-एक लोक का राज्य भरा पड़ा है। 'अ' में आकाश, 'फ़ी' में पाताल और 'म' में मर्त्य-लोक! गले के नीचे उतरते ही तीनों लोकों का राज्य चरणों में आकर झुक जाता है। कविता उँगलियों पर 'पिद्दी' की तरह आ बैठती है। पृथ्वी आकाश पर उतर आती है और आकाश धीरे-धीरे पृथ्वी की ओर चढ़ने लगता है। जल में, थल में, कण-कण में उलट-फेर हो जाता है। चंद्र-सूर्य बुझ जाते हैं। हवा में हल-चल मच जाती है। पत्ता-पत्ता फड़क उठता है। ऐसे विकट समय में भी इसका सच्चा सेवक बड़ी शांति से—आधी आँखें मूँदकर—मस्ती के झोंके लिया करता है, जैसे नंदनवन में हिंडोला डला हो।

(पीनक लेता है।)

(पट-परिवर्तन।)

———

तीसरा दृश्य

स्थान—वन।

[प्रताप, सामंत और भीलराज।]

सामंत—कष्ट-सहन की भी कोई सीमा होती है। देशभक्तों के भी हृदय होता है। स्वाभिमान और स्वाधीनता की रक्षा भी क्या कोई पाप है, जिसके लिए मेवाड़ के महाराणा को आठों-पहर मौत के मुँह में रहना पड़े। हृदय में टीस उठती है, जब हम एक ओर भारत के सपूत प्रताप को वन-वन भटकते देखते हैं, मेवाड़ की दयालु रानी-माँ-को कंटकाकीर्ण पथों पर नंगे-पावों चलते देखते हैं और राजस्थान के हृदय-दीपक छोटे-छोटे राजकुमारों को घास-पात की रोटी के लिए मचलते, बिलखते और लड़ते देखते हैं; साथ ही दूसरी ओर मानसिंह-सरीखे देश-द्रोही, आज़ादी के दुशमन, को फूलते-फलते देखते हैं। यह संसार बड़ा विषम है। यह ईश्वर बड़ा निष्ठुर है।

(राणा सुनकर ठंडी साँस लेते हैं।)

भील०—क्या कहा! ईश्वर! कहाँ है ईश्वर? यह तुम्हारा भ्रम है सामंतजी! जो है ही नहीं—वह निष्ठुर कैसा! आज दो दिन से लगातार जंगलों में भटक रहे हैं। अब ज़रा अवकाश मिला है, भूखे बच्चों के लिए थोड़ा-सा घास-पात जुटा है। बेचारी महारानी-ने एक रोटी बनाई है। दोनों बच्चे उसके लिए आपस में झगड़ रहे हैं। बाप्पारावल के वंश की यह दुर्दशा—स्वाधीनता के लिए जान लड़ाने का यह पुरस्कार! अब नहीं देखा जाता। हृदय फटा जाता है। यदि ईश्वर होता, तो क्या ये दिन देखने पड़ते!

(राणा ठंडी साँस लेते हैं, नेपथ्य से शिशुओं की रोदन-ध्वनि ।)

सामंत—देखो तो भीलराज, क्या बात है !

(भीलराज का प्रस्थान, शीघ्र ही लौटना ।)

भील०—ग़ज़ब हो गया राणा, भूखे बच्चों के हाथ से वनविलाव रोटी छीन ले गया । पास में कोई फल-फूल नहीं और दूर जाने की शक्ति नहीं । अब क्या होगा ?

प्रताप—क्या होगा ? दुधमुँहे बच्चों को भूख से तड़प-तड़पकर इस निर्जन वन में प्राण देना होगा, स्वाधीनता और स्वाभिमान की रक्षा का जो पुरस्कार मिला करता है, वही मिलेगा और क्या होगा ? स्वतंत्रता के पुजारी प्रताप को आज छाती पर पत्थर रखकर स्वजनों की अकाल-मृत्यु देखनी होगी । अपनी आँखों के आगे अबोध बच्चों और प्यारी रानी को रोटी के टुकड़ों के लिए बिलख-बिलख कर मरते देखना होगा । अपने ही हाथों अपने हृदय-रक्त को मृत्यु के अथाह सागर में विसर्जित करके हँसना होगा, गर्व करना होगा, स्वाभिमान से सिर उठाकर चलना होगा, स्वतंत्रता का संगीत सुनना होगा । वाह रे स्वाभिमानी, वाह रे देशभक्त ! कितना सुन्दर स्वाभिमान है, कैसी सुखकर स्वाधीनता है, कैसी बढ़िया देशभक्ति है ! निरपराध स्वजनों की चिताभस्म को निर्दयता-पूर्वक पैरों तले रौंदते हुए तांडव का आनन्द लेना होगा, चित्तौड़ के खँडहरों और मेवाड़ के रजकणों की जय बोलना होगा, आनन्द से नाचना होगा, गाना होगा । कितना सुन्दर स्वाभिमान है, कैसी बढ़िया देशभक्ति है, कैसा तीखा त्याग है ! शिशु-हत्या, नारी-हत्या, वंश-नाश और आत्म-घात करके स्वाभिमान से सिर उठाना, देशभक्ति पर गर्व

करना, स्वाधीनता पर फूल उठना, कैसा सुंदर पागलपन है, कैसी बढ़िया मूर्खता है, कितना महँगा सर्वनाश है !

भील०—वज्रपात हो गया राणा ! इस कुसमय में मुग़ल-सेना भी इधर ही चली आ रही है। शीघ्र चलिए, अन्यथा बालकों की प्राण-रक्षा असम्भव हो जायगी।

प्रताप—बालकों की प्राण-रक्षा ! कैसा सुन्दर स्वप्न है ! हः हः हः ! बालको की प्राण-रक्षा ! कैसी मौलिक कल्पना है ! भूख से तड़प-तड़प कर जान देनेवाले अभागे बालकों की प्राण-रक्षा ! घुट-घुट कर मरने वालों को जीवन-दान ! कैसा सुन्दर उन्माद है ! हः हः हः हः। (विकट हास्य)

सामंत—राणाजी, शीघ्रता कीजिए। नहीं तो शत्रुओं से प्राण बचाना कठिन हो जायगा !

प्रताप—प्राण बचाना ! मूर्ख हो सामंत ! प्राण इस प्रकार बच कर क्या करेंगे ? घड़ी-भर बाद फिर भूख-प्यास से तड़प-तड़प कर मरेंगे ! मैं सैनिक हूँ, लड़ते-लड़ते प्राण दूँगा। पर बच्चे क्या करेंगे ! सैनिक के बालकों को कुत्तों की मौत मरना होगा—मरना ही होगा। यह सत्य है—ध्रुव है—अटल है !

सामंत—ऐसा न कहें राणा, बच्चों की प्राण-रक्षा करनी होगी—सर्वस्व लुटाकर भी करनी होगी। यह दुर्दशा असह्य है !

प्रताप—सर्वस्व लुटाकर—सब से प्यारी वस्तु को ठुकराकर ! अच्छा वही होगा ! निरपराधों की रक्षा होगी, समझे सामंत ! चिंता न करो, भय न करो।

सामंत—किंतु, निश्चिन्त बैठने से तो काम न चलेगा राणा !

यह स्थान छोड़ना ही पड़ेगा।

प्रताप—क्यों? क्या प्रताप चोर है, ठग है, लुटेरा है, पापी है, जो कायरों की तरह अपने बच्चों के प्राण छिपाता फिरे! निश्चिन्त हो सामंत, सर्वस्व देकर भी शिशुओं की रक्षा की जायगी। अकबर मेवाड़ी प्राणों का आदर करता है। अब प्रताप पथ का भिखारी न रहेगा, अब प्रताप के बच्चे दाने-दाने को मुहताज न रहेंगे, मेवाड़ की महारानी लकड़ियाँ न वीनेगी, अब तुम लोगों को मेरे लिए ये कष्ट न उठाने पड़ेंगे। आने दो, आक्रमणकारी मुग़लों को समीप आने दो, वे हम पर प्रहार करने के बदले हमारा सत्कार करेंगे। हमें कहीं न जाना होगा, कुछ न करना होगा, समझे सामंत, केवल दो अक्षर काफी होंगे—एक शब्द बहुत होगा। लीजिए, आप ही की इच्छा पूर्ण हो, सर्वस्व लुटाकर भी शिशुओं की रक्षा करनी चाहिए! क्यों न? हः हः हः!

(एक ओर से रोदन-ध्वनि, दूसरी ओर से 'लेना, मारना' की आवाज़।)

प्रताप—रोओ, रोओ, ख़ूब रोओ, मेवाड़ के राणा के प्यारे बच्चो, ज़रा और रोओ! प्रताप जिस भीषण कार्य का अनुष्ठान करने जा रहा है, उसके लिए वज्र-हृदय की आवश्यकता है। तुम्हारे आँसू ही इसे कर्कश बना सकते हैं। रोओ, रोओ, हाँ ख़ूब रोओ!

(मुग़लों की ध्वनि समीपतर, सामंत तलवार और भीलराज तीर सँभालते हैं।)

प्रताप—बस बद करो! तीरों और तलवारों का समय बीत गया। सामंत, तलवार म्यान में करो। भीलराज, तीर तरकश में रखो। अब तलवार के बदले क़लम चलेगी। बुलाओ इस दल के

मुखिया को ! लाओ क़ाग़ज़-क़लम । सुनते नहीं ! शीघ्रता करो ! बीत चुका, उस शून्य साधना का—उस मँहगे पागलपन का—समय बीत चुका । अब प्रताप जंगली प्रताप नहीं रहा—अब प्रताप पथ-का भिखारी नहीं रहा ! हः हः हः !

(राणा का विकट हास्य, बच्चों का रोदन ।)

प्रताप—हाँ, ख़ूब रोओ, बचो, जब तक सब कुछ समाप्त न हो ले, रोना बंद न करो ! लाओ सामंत, कहीं से क़ाग़ज़-क़लम लाओ ! आज्ञा-पालन करो ।

(सामंत विषएणभाव से लाकर देता है । राणा लिखते हैं ।)

(एक मुग़ल का प्रवेश)

प्रताप—सैनिक, जाओ हम संधि करेंगे ।

मुग़ल—(ज़मीन तक झुककर) जो हुक्म महाराणा ! अब आप बेफ़िक्र रहें । (प्रस्थान ।)

प्रताप—भीलराज ! लो यह पत्र फ़ौरन् अकबर के पास पहुँचवाओ ।

सामंत—यह क्या राणा ! यह क्या ! आज ये अभागी आँखें अग्नि को शीतल होते देख रही हैं !

प्रताप—ठीक देख रही है सामंत ! अपनी ज्वाला से आप ही भस्म हो जानेवाली अग्नि का शीतल हो जाना ही स्वाभाविक है । प्रताप को उपदेश देने से क्या लाभ ? उन दुधमुँहे बच्चों के पेट से पूछो, वह उपदेश सुन सकेगा ? उस अभागिनी रानी की गीली आँखों-से पूछो, वे उपदेश सुन सकेंगी ? निश्चय कर चुका हूँ सामंत ! अब उपदेश व्यर्थ है ! व्रत मैंने लिया था, इन्होंने नहीं ! नदी में भयंकर बाढ़ आ जाने पर उसका बाँध तोड़ देना ही हितकर होता है, नहीं

तो आस-पास के ग़रीब गाँव बेमौत मर जाते हैं! अत्याचारियों की हत्या में अभ्यस्त हृदय भी निरपराधों की हत्या नहीं देख सकता। क्या इनका यही अपराध है कि ये मेरे यहाँ जन्म लेकर आए हैं। स्वार्थी संसार सेवकों से बहुत अधिक आशा रखता है। यह अन्याय है। तुम्हींने तो अभी कहा था सामंत, कि "कष्ट-सहन की भी कोई सीमा होती है—देशभक्तों के भी हृदय होता है!" समय हो चुका, जाओ भीलराज, शीघ्र जाओ!

(बच्चों की रोदन-ध्वनि आती है।)

प्रताप—हाँ, रोओ, प्यारे बच्चो, और रोओ! रोने की बड़ी आवश्यकता है—हः हः हः—रोने की बड़ी आवश्यकता है।

(कठोर हास्य।)

(पट-परिवर्तन।)

चौथा दृश्य

स्थान—मुग़ल दरबार।

[अकबर, मानसिंह, पृथ्वीसिंह, कुछ चुने हुए मुग़ल और राजपूत सरदार।]

अकबर—क्यों राजा साहब, क्या प्रताप अभी तक मुग़ल सल्तनत-को सर झुकाने से इनकार कर रहा है?

मान०—बेशक। अभी तक उसने अपनी आदत नहीं छोड़ी है। जंगलों में मारा-मारा फिर रहा है, दाने-दाने को मुहताज है, बाल-बच्चे तबाह हो रहे हैं, फिर भी ज़िद नहीं छोड़ता। जहाँपनाह, इसे सिवा उसकी नासमझी के और क्या कहा जा सकता है?

पृथ्वी०—(व्यंग्य से) कुछ नहीं। और कोई शब्द राजा साहब की ज़बान से निकल ही कैसे सकता है ?

अकबर—हमारी फ़ौजें दिन-रात उसे घेरे रहती हैं। आख़िर कोई कब तक जंगल-जंगल मारा फिर सकता है ? मेरा तो ख़याल है कि अब वह ज़्यादा दिनों तक इस तरह न रह सकेगा।

मान०—कहाँ तक रह सकेगा शाहंशाह, आख़िर सब्र की भी तो कोई हद होती है।

अकबर—(स्वगत) ख़ाक होती है, ख़ुशामद भी दुनिया में कैसी बुरी चीज़ है ! इन लोगों को सच्ची राय तक देने में इतनी हिचकिचाहट होती है, यह देखकर तरस आता है।

मान०—क्या जहाँपनाह किसी पोशीदा ख़याल में मशगूल हैं ?

अकबर—नहीं राजा साहब, मैं सिर्फ़ प्रताप की हिम्मत पर ग़ौर कर रहा था। उसका हमारे सामने झुकना कुछ मुश्किल तो ज़रूर मालूम होता है। क्यों आपकी क्या राय है ?

मान०—हूँ......हाँ......है तो कुछ ऐसा ही।

पृथ्वी०—(स्वगत) वाह, क्या हाँ में हाँ मिल रही है। जो बात पहले आसान मालूम होती थी, वही अब मुशकिल मालूम होने लगी ! अकबर का इशारा और मानसिंह की गरदन, दोनों के बीच-में किस जादू का तार लगा है, कौन जान सकता है ?

अकबर—लेकिन कभी-कभी देखा गया है कि नामुमकिन बातें भी मुमकिन हो जाती है।

मान०—हाँ, ऐसा भी होता है, जहाँपनाह !

अकबर—(स्वगत) फिर वही बात ! ऐसा भी होता है और वैसा

भी होता है। इस 'हाँ-में-हाँ' की भी कोई हद है! इन लोगों का सची राय देना उतना ही नामुमकिन है, जितना प्रताप का सर झुकाना।

मान०—उसमें इतने सोच-विचार की ज़रूरत ही क्या है, जहाँ-पनाह? फ़ौजें अपना काम डटकर कर रही हैं। अभी तक की ख़बरें तो हमारी ताईद ही कर रही हैं, आगे जो होगा, देखा जायगा।

पृथ्वी०—राजा साहब के विघ्नसंतोषी नयन प्रताप को भी इस स्थिति में देखने को इतने उत्सुक हैं, यह स्वाभाविक ही है। हर-एक भलामानस हर-एक भलेमानस को अपना साथी बनाना चाहता है, चाहे वह वहाँ जा रहा हो, जहाँ जीवन मृत्यु से मिलता है, या वहाँ, जहाँ मृत्यु जीवन से मिलती है। क्यों राजा साहब, ठीक है न?

मान०—(अन्यमनस्क होकर) आपकी कविता समझने को मेरे पास समय नहीं है कविराज!

पृथ्वी०—उसके न होने ही में कुशल है महाराज! अन्यथा व्यर्थ की झंझटों में फँस जाने के कारण शाहंशाह की फ़रमा-बरदारी में.........

(दरबान का प्रवेश।)

दर०—जहाँपनाह, मेवाड़ से राजदूत आया है।

अकबर—(साश्चर्य) मेवाड़ से दूत!

राजपूतगण—मेवाड़ से दूत!

दर०—जी हाँ, जहाँपनाह!

अकबर—अच्छा, उसे इज़्ज़त के साथ लिवा लाओ।

दर०—जो हुक्म ख़ुदावंद! (प्रस्थान।)

पृथ्वी०—(स्वगत) मेवाड़ से दूत! इस झूठ की भी कोई हद है!

मुग़ल-दरबार के छोटे से लेकर बड़े तक सभी सिर से लेकर पैर तक झूठ से, दग़ा से, छल से, फ़रेब से कूट-कूट कर भरे हुए हैं क्या ?

मान०—(स्वगत) मेवाड़ से दूत! अगर यह सच हो, तो मानसिंह के अपमानित हृदय की ज्वाला ठंडी हो जाय !

अकबर—(स्वगत) मेवाड़ से दूत ! हाय, सारी सल्तनत को लुटाकर भी—राह का भिखारी बनकर भी अकबर अगर इस ख़बर की सचाई इन आँखों से देख सके, तो अपने को दुनिया का सबसे बड़ा .ख़ुशक़िस्मत समझे !

(राजदूत का प्रवेश)

दूत०—मेवाड़ के महाराणा ने यह पत्र भेजा है। मैं बाहर उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। (पत्र देकर प्रस्थान।)

[अकबर पत्र पढ़ने लगता है। सभा में सन्नाटा। सब जिज्ञासुभाव से उसके मुख की ओर देखते हैं। उसके मुख पर धीरे-धीरे प्रसन्नता झलकती है, पृथ्वीसिंह विचार-मग्न होता है।]

अकबर—बरसों के इंतज़ार का मीठा फल कितना प्यारा होता है, राजा साहब, आज समझ रहा हूँ। प्रताप-सरीखे जवाँमर्द दुश्मन-को दोस्त बनाना कितना महँगा होता है, आज समझ रहा हूँ। क्यों पृथ्वीसिंहजी ठीक है न ?

पृथ्वी०—अगर जहाँपनाह ग़लत नहीं समझ रहे हैं, तो ठीक ही होगा !

अकबर—ग़लत ! इसमें ग़लत हो ही क्या सकता है ? ख़त सामने है, साफ़ प्रताप का ख़त है, फिर भी ग़लत है ! तुम्हारे शक्की मिज़ाज की भी अजीब हालत है, कविराज !

पृथ्वी०—(व्यंग्य से) मालूम होता है इसके पहले भी राणा प्रताप जहाँपनाह की ख़िदमत में दो-चार सुलहनामे भेज चुके हैं, तभी तो शाहंशाह ने उनका ख़त पहचान लिया।

(अकबर व्यंग्य से चुटीला हो जाता है, पर कहता कुछ नहीं।)

मान०—उसमें इतनी झंझट की ज़रूरत ही क्या है? ख़त की जाँच होते ही सब साफ़ हो जायगा।

अकबर—बिलकुल ठीक! राजा साहब ने .खूब सुझाई!

(कुछ देर विचार-मग्न।)

अकबर—(सहसा सिर उठाकर) अच्छा पृथ्वीसहजी! आपका भी तो प्रताप से कोई रिश्ता है! आप तो उनका ख़त ज़रूर पहचानते होंगे। लीजिए, आप ही ज़रा ग़ौर से देखिए।

पृथ्वी०—(पत्र लेकर, कुछ देर तक ग़ौर से देखने के बाद)—(स्वगत)—यह क्या? असंभवता आज संभवता के चरणों पर झुक रही है! हिमाचल पथ के रजकणों से संधि चाहता है! हाय राणा, किस दुर्दिन ने यह प्रेरणा दी! कैसे विश्वास करूँ! पर अविश्वास भी कैसे करूँ? (प्रकट) शाहंशाह मैं दस्तख़त पहचानता हूँ। ये दस्तख़त प्रताप के·········

अकबर—(बीच में ही) मैंने तो पहले ही कहा था कि ये दस्तख़त प्रताप ही के हैं। आपने फ़िज़ूल इतना शक-शुबहा और बहस-मुबाहिसा किया।

पृथ्वी०—जहाँपनाह! ये दस्तख़त प्रताप के······

अकबर—(बीच ही में) वाक़ई ये दस्तख़त प्रताप ही के हैं। आपने बड़ी भारी .ख़ुशख़बरी सुनाई कविराज़!

पृथ्वी०—शाहंशाह सुनिए तो ! ये दस्तख़त प्रताप के······

अकबर—(बीच ही में) बस बस, मैं आप पर इतना .खुश हूँ कविराज, कि सल्तनत की बड़ी-से-बड़ी दौलत आपको इनाम देने को जी चाहता है।

पृथ्वी०—ग़ज़ब न करें जहाँपनाह ! पहले पूरी बात तो कह लेने दें !

अकबर—कहिए, आप क्या कहना चाहते हैं ? यही न कि ये दस्तख़त प्रताप के हैं।

पृथ्वी०—जी नहीं ! (सभा में विस्मय।)

अकबर—जी नहीं ?

पृथ्वी०—जी नहीं ! हजार बार नहीं ! ये दस्तख़त प्रताप के हैं ही नहीं !

अकबर—क्या कह रहे हैं कविराज ?

पृथ्वी०—यही कि ये दस्तख़त प्रताप के नहीं हैं। मुझे शक होता है, शाहंशाह को फ़िज़ूल परेशान करने के लिए किसी दुश्मन-ने जाल रचा है ! अगर यक़ीन न हो तो मैं अभी राणाजी को ख़त लिखकर दरयाफ़्त करता हूँ और इस सुलहनामे की असलियत-का पता लगाता हूँ।

अकबर—क्या कहा ? जाल है ! दुश्मन का जाल है ! अफ़-सोस ! (मानसिंह से) मेरा जी अच्छा नहीं है राजा साहब, मैं ज़रा आरामगाह में जाना चाहता हूँ। (प्रस्थान।)

(धीरे धीरे दरबारियों का प्रस्थान। पृथ्वीसिंह अकेला।)

पृथ्वी०—वज्रपात हो गया ! हाय राणा ! भारतवर्ष के अंध-

कारमय दुर्भाग्य में आपका स्वाभिमान एकमात्र तेजस्वी दीपक था; हमारा जीवनाधार प्रकाश था। क्या उसे इस दुर्दिन में क्षण-भर को भी बुझना शोभा देता है? हाय रे अभागे देश! सर्वस्व खोकर भी सबक़ नहीं सीखा। इस बचे-खुचे लाल की भी धन-जन से रक्षा न कर सका। हाय क्या करूँ? मुझ-जैसा अभागा इस दुर्दशा में कर ही क्या सकता है? (कुछ देर विचारमग्न और निराश, फिर सहसा चैतन्य होकर) बस यही ठीक है। पत्र लिखूँगा! अपने जीवन की, यौवन की, कवित्व की, हृदय की समस्त शक्ति लगाकर—समस्त साधना एकत्र कर, एक—केवल एक—उत्तेजक पत्र लिखना होगा। पृथ्वीसिंह! अभागे कवि! क्या तेरी कविता इस कठिन समय पर कुछ भी काम न आयगी, क्या वह जन्म-भर नरक के कीड़ों ही की भोग-वस्तु बनी रहेगी! (प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन।)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान – वन।

[प्रताप और सामंत।]

प्रताप—कहते हो 'धैर्य धरिए'? किसके लिए? कुछ भी शेष न रहने पर जो शेष था, जिसके शेष रहते सर्वनाश भी स्वर्ग प्रतीत होता था, अब तो वह भी गया! कहते हो 'धैर्य धरिए'! इस हृदय से पूछो सामंत, इतनी दाह, इतना दर्द, इतनी कसक और भी कभी इसमें हुई थी, इन थोड़े-से दिनों में मेरी आत्मा पर कितनी बार चित्तौड़ की धुँधली आँखों के आँसू बरसे हैं, मुझसे पूछो!

उफ़्! उनके एक-एक कण में प्रलय का एक-एक महाज्वार और दावा-दग्ध सागर भरा हुआ था! इस थोड़ी-सी अवधि में मेरे प्राणों पर मातृभूमि का अभिशाप कितनी बार वज्र बन-बन कर गिरा है, मैं ही जानता हूँ। आह उसकी एक-एक तड़प में हृदय की जन्म-जन्मांतर-की संचित सरसता को क्षण-भर में जलाकर भस्म कर देने की शक्ति थी! क्या कहूँ? उसकी स्मृतिमात्र से अंतस्तल में एक साथ हज़ारों बिच्छुओं के दंशन की-सी पीड़ा होती है। हाय, मेरा वह स्वर्ग से भी महँगा पागलपन, जीवन भर जल-जलकर भी—रो-रोकर भी—क्या मुझे अब वापस मिल सकेगा? मैंने अपने प्राणों से प्यारे मर्म-पर अपनी ही चुटकी से तीर छोड़ा है। क्या वह लौट सकेगा भाई?

सामंत—विकल न हों देव, अभी अवसर है। चित्तौड़ की आशा-लता अभी सूखी नहीं है, भयंकर ग्रीष्म के बाद वर्षा और भी शीतल प्रतीत होती है। कुछ देर बादल में छिपकर बाहर निकलने-पर ही रवि-शशि के लिए हज़ारों प्यासी आँखें एक साथ आकाश की ओर उठ जाती हैं। क्षण भर आँखें मूँदकर फिर प्रकाश की ओर देखने से वह विद्युत् की तरह चकाचौंध पैदा करता है। बीच-बीच में ताल टूटने ही से रुद्र का तांडव इतना भीषण हो जाता है! विकल न हों देव, स्वदेश के हृदय-सम्राट्, एकमात्र प्राणाधार, तुम तो कभी 'अपने' को भूलते न थे! उठो! एक बार फिर उठो! पागलों की प्राण-ज्योति, एक बार स्वधीनता के आकाश में फिर नवीन अरुणोदय बन कर चमको! बस, भोला संसार रजनी को भूल जायगा, जैसे बिछुड़ा हुआ बालक माँ को देखते ही सारा दुःख भूलकर उससे लिपट जाता है।

प्रताप—तुम्हारे शब्दों में बड़ा बल है सामंत, बड़ी स्फूर्ति है, बड़ा आश्वासन है, बड़ा प्रोत्साहन है ! हृदय में बिजली-सी चमक उठती है। इच्छा होती है एक बार—अन्तिम बार—फिर पागल बना जाय, नवीन सृष्टि की जाय—हृदय के सर्वोच्च आसन पर स्वाधीनता देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठित की जाय, उसके आस-पास अखंड पहरा दिया जाय—जब तक आँखें सदा के लिए बंद न हो जाएँ—क्षण-भर भी चैन न लिया जाय। विश्वामित्र के नूतन तप की तरह असिधारा-व्रत से दिल्ली के देवताओं का आसन हिला दिया जाय !

सामंत—स्वाधीनता के 'होता', आपकी 'स्वाहा' पर अब भी मुट्ठी-भर मेवाड़ी वीर सहर्ष 'समिधा' बनने को प्रस्तुत हैं।

प्रताप—मालूम होता है, अभी माँ ने मेरा निर्माल्य ठुकराया नहीं है। अब भी उसके उदार चरणों में इस कपूत के लिए, थोड़ा-सा स्थान सुरक्षित है। प्रस्तुत हूँ सामंत ! इस महापाप का कठोर प्रायश्चित्त करना ही होगा। निरन्तर साधना की—कष्टों की—आग में तिल-तिल जल-जल कर आत्मशुद्धि करनी ही होगी। धधकाओ, फिर एक बार ज्वाला धधकाओ। जो न्याय है, सत्य है, ध्रुव है, अटल है, उसका आग्रह—उसका हठ—मरकर भी छोड़ना अनुचित है, अपराध है, घोर पातक है, कायरता है। चलो शीघ्रता करो भाई ! जो शीघ्रता पाप में मोह कहलाती है, वही पुण्य में साहस बन जाती है। चलो शीघ्र ही युगधर्म का पालन करें।

(भीलराज का प्रवेश।)

भीलराज—महाराणा ! पृथ्वीसिह का दूत यह पत्र लाया है।

(पत्र देता है)

प्रताप—किसका ? पृथ्वीसिंह का दूत ! अच्छा !! (पत्र पढ़कर) कहाँ है वह ? पृथ्वीसिंह से कहला दो—"कृतज्ञ हूँ, चिंता न करो, प्रताप अपने प्रण पर अटल है। तुम्हारे पत्र का उत्तर क़लम से नहीं; शीघ्र ही तलवार की धार से दिया जायगा। अकबर को इस बार प्रताप-के प्रलयंकर संघर्ष का मुक़ाबिला करना पड़ेगा।" और तुम भीलराज ! जाओ शीघ्र युद्ध की तैयारी करो, हम अभी घेरा तोड़कर—बंधन काटकर—बाहर निकलते हैं। स्वाधीनता या मृत्यु दोनों में से एक को गले लगाते हैं। उसके बाद, यदि हम जीवित रहे, तो संसार देखेगा कि हम कुछ ही दिनों में मेवाड़ का एक-एक कोना किस प्रकार अकबर से छीन लेते हैं, स्वतन्त्र करा लेते हैं।

भील०—उसकी अभी से आशा कैसे करें ? केवल हमारे प्राण हमारे हाथ में हैं, हम उन्हें देश के नाम पर चाहे जब निछावर कर सकते हैं—जलती आग में झोंक दे सकते हैं, पर विजय तो हमारे हाथ में नहीं है—हमें उसकी आशा न करनी चाहिए !

सामंत—क्यों ? विजय के मार्ग में कौन बाधा डाल सकता है भीलराज ?

भीलराज—अर्थाभाव ! मैं भी आदर्शवादी हूँ सामंत ! मेरे हृदय-में भी बड़ी-बड़ी उमंगें उठा करती हैं। मैं भी आठों पहर प्राणों को हथेली पर लिये घूमता हूँ। पर, क्या करूँ ? जो नग्न-सत्य है, वह कहाँ तक छिपाया जा सकता है ? संसार के साहसी वीर 'कोष' की कथा बहुत कम याद रखते हैं, यह सत्य है, पर, संसार—स्वार्थी संसार उसे बहुत महत्त्व देता है। वह उन सोने-चाँदी के चमकीले टुकड़ों को प्राणों से भी प्यारा समझता है। देखते नहीं हो सामंत !

उन्हीं की चमक-दमक पर दुनिया की हाट में चिरकाल से देश-धर्म, रूप-यौवन, मान-सम्मान, आत्मा-हृदय, विद्या-बल, सब कुछ बिकता आया है। आज भी बिक रहा है।

सामंत—जो बेचते हैं, वे मनुष्य नहीं, नरक के कीड़े हैं भीलराज! स्वदेश के सच्चे सैनिक उन टुकड़ों पर घृणा की ठोकर मारते हैं। जिनके हृदय में स्वाधीनता की आकांक्षा निरन्तर आग की तरह सुलगा करती है, उन पर चाँदी सोने का जादू नहीं चलता! प्रलोभनों पर विचार करने को भी उन्हें अवकाश नहीं मिलता। वे केवल कर्तव्य-पालन किया करते हैं। उनका संसार, संसार में होकर भी, ऐसे घृणित संसार से अलग है। अर्थभाव! अर्थभाव हमारी विजय में बाधक नहीं हो सकता—कदापि नहीं हो सकता। यदि हमारे हृदय में स्वाधीनता की सच्ची लगन है, तो लक्ष्मी किसी न किसी दिन हमारे चरण चूमेगी।

(भामाशाह का प्रवेश।)

भामाशाह—किसी दिन क्यों? अभी चूमेगी सामंत! इसी क्षण वैभव वीरता की चरण-रज पर निछावर होगा। इस पुराने सेवक को भूल तो नहीं गए महाराणा? इस अभागे ने जीवन-भर जन्मभूमि मेवाड़ का नमक खाया है। वह इसकी हड्डियों में भिद गया है। किंतु, आज इन हाथों में इतना बल नहीं कि आपके साथ स्वाधीनता-संग्राम में तलवार चला सकें। इस हृदय में इतना साहस नहीं कि युवकों को ललकारकर—पुकारकर—समरभूमि में एकत्र कर सके। मैं अधम हूँ देव! मुझमें कोई शक्ति नहीं—कोई गुण नहीं! सारे जीवन की साधना क्या है? कुछ नहीं! केवल तुच्छ धन! केवल

घृणास्पद चाँदी सोना !—हृदय का बंधन—आत्मा का भार ! उसे बटोरकर ले आने पर भी इन चरणों में रखने का साहस नहीं होता ! और यह शक्तिहीन हृदय, बलहीन आत्मा और तेजोहीन शरीर ! यह भी किसी काम का नहीं ! (चरणों में गिरकर) क्या इसे चरणों-में भी स्थान न दीजिएगा ? हमारे आदरणीय नेता, हमारे स्वाधीनता-संग्राम के महान् सेनानी !

प्रताप—(उठाकर गले लगाकर) भामाशाह ! भाई ! कौन कहता है, तुम्हारी आत्मा बलहीन है—हृदय शक्तिहीन है ! तुम्हारा उदाहरण चिरकाल तक संसार के अर्थ-पिशाचों की आँखें खोलता रहेगा। तुम महान् हो भाई ! तुम्हारा त्याग कितना उज्ज्वल है ! सारे जीवन की श्रम-संचित संपदा को इस प्रकार निर्मम होकर लुटा देना—पानी की तरह बहा देना—कंकड़-पत्थर की तरह ठुकरा देना क्या हँसी-खेल है ? इसके लिए आत्मा में बड़े प्रखर प्रकाश की—बड़ी प्रबल प्रेरणा की—आवश्यकता होती है। केवल तलवार चलानेवाले ही वीर नहीं होते। यह तो आज का युग-धर्म है—केवल अंगीकृत मार्ग है। लक्ष्य की समानता होते ही भिन्न-भिन्न पथों के असंख्य पथिकों के हृदय एक में जुड़ जाते हैं ! वीर वही है, जो किसी सिद्धान्त पर—आदर्श पर—लक्ष्य पर—हँसते-हँसते सर्वस्व बलिदान कर दे, जो कुछ हो दे दे। तुमसे बढ़कर वीर कौन होगा भामाशाह ! इस बुढ़ापे में भी तुम्हारा यह उत्साह देखकर—स्वाधीनता की इतनी प्रबल प्यास देखकर—हज़ारों युवकों के मस्तक झुक जाएँगे। स्वागत है वीर, मातृभूमि के स्वाधीनता-यज्ञ में तुम्हारी सर्वस्वाहुति का हृदय से स्वागत है।

भील०—तुमने आज मुरझाती आशा-लता को सहसा आकर नव-जीवन दिया है, भामाशाह!—यह मेवाड़ कभी न भूलेगा!

सामंत—अब विलंब क्यों राणा?

प्रताप—अब विलंब क्यों? अभागे हृदय! प्रस्तुत हो जा! अब भी अवसर है। तेरी क्षणिक दुर्बलता एक बार मेरे जीवन-भर की दृढता पर—निग्रह पर—साधना पर—पानी फेर चुकी है। उस पाप का प्रक्षालन करने को प्रस्तुत हो जा। याद रख, यह नव-जीवन है—वज्र से भी कठोर, हिमालय से भी अटल! सर्वनाश की कर्कश नींव पर इसकी प्रतिष्ठा हुई है! अब कभी भूलकर भी विचलित न होना; नहीं तो सत्य कहता हूँ, इसी खड्ग से तेरे टुकड़े-टुकड़े करके माँ की भेंट चढ़ा दूँगा। प्रवंचक! तू नहीं जानता, तेरे एक ही कोमल कंपन में हज़ारों उज्ज्वल बलिदान व्यर्थ हो जाते हैं। भीलराज! चलो, युद्ध की तैयारी की जाय। मेवाड़ के वनों, पर्वतों, ग्रामों और कोने-कोने में, एक बार फिर समर-यज्ञ का आयोजन हो। एक बार फिर धूम-शिखाओं से भारत का राजनीतिक आकाश मेघाच्छन्न हो जाय। एक बार फिर विद्युत् की चमक बन कर स्वाधीनता हमें आशीर्वाद दे। जय स्वतंत्रता, जय मेवाड़!　　(प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन)

———

7

छठा दृश्य

स्थान—पथ।

[गेरुए वस्त्र पहने व्रती के वेश में शक्तसिंह।]

शक्त०—जीवन एक इतिहास बन गया है। भोला-भाला शैशव, पिता का तिरस्कार ; उद्दाम यौवन, भाई से कलह ; बदले की प्यास, अकबर का आश्रय; हल्दीघाटी का संग्राम, पश्चात्ताप; भाई से भेंट, 'क्षमा'! दुनिया की दृष्टि में जीवन समाप्त ! शक्त के हृदय की दशा कौन जानता है ? जीवन-नाटक का तृतीयांक, सारा का सारा, 'स्वगत' हुआ चाहता है। संसार केवल एक भिक्षुक संन्यासी का करुण गान सुन पाएगा, और कुछ नहीं। मेरी साधना नीरव है! मुझे कोई ठीक-ठीक न जानेगा! तुम भी न जानोगे अभागे हृदय! 'देश-द्रोह'! इतने बड़े पाप के लिए शास्त्र में कोई प्रायश्चित्त नहीं। उसकी सीमा प्राणान्त पर ही समाप्त हो जाती है। कोरी 'क्षमा' से आत्मा को संतोष नहीं हुआ ! फिर ? और कुछ करना होगा ! धन, मान, सेना, हाथी, सम्मान, स्वाभिमान, कीर्ति, वीरता, युद्ध, संधि, सुख-दुःख, शांति, समाधि-स्तूप, पूजा, श्रद्धाञ्जलि, सब से अलग रहकर एक अपरिचित की भाँति देश में घर-घर अलख जगाना होगा—गली-गली गाना होगा। कोई परिचय पूछे, तो कहना होगा 'पापी', कार्य पूछे, तो 'प्रायश्चित्त', तीसरी बात पूछे, तो मौन ! यों ही, किसी दिन चुपके से, किसी निर्जन में, अपने ही हाथों से लाल वन-कुसुमों की चिता रचकर यह अज्ञात साधना समाप्त कर देनी होगी। बस। तब तक माँगते फिरना होगा—गाते फिरना होगा। यही गान गाना होगा—

(गान)

आज भिखारी आया द्वार,
माँग रहा है हाथ पसार !
ऐ माँ-बहनो, बहू-बेटियो,
लाज रखो माता की आज,
दे दो अपने 'झोली के धन',
दे दो अपने 'सिर के ताज',
सुनो देश की करुण पुकार,
आज भिखारी आया द्वार !

प्यारे लाल, लाड़ले भाई,
भर्ता, पिता, लुटा दो आज,
ओ 'जौहर'-व्रतवाली बहनो,
जन्म-भूमि की रख लो लाज !
खोलो, खोलो हृदय उदार !
आज भिखारी आया द्वार !

वन-वन पागल-से फिरते हैं
आज पुजारी, माँ के लाल,
आहुतियाँ भेजो प्राणों की,
फिर उन्नत हो माँ का भाल,
बलिवेदी पथ रही निहार !
आज भिखारी आया द्वार !

(प्रस्थान ।)

(पट-परिवर्तन ।)

सातवाँ दृश्य

स्थान—अमरसिंह का कक्ष।

[अमरसिंह अकेला।]

अमर—दिन-पर-दिन, वर्ष-पर-वर्ष बीतते ही चले जा रहे हैं। जन्म से लेकर आज तक जीवन का जो अर्थ समझ पाया हूँ, वह अधूरा है। जैसे लोहे का चक्र हो। वह चुपचाप किसी के इशारे पर रात-दन घूमता रहता हो। जब रुक जाता हो, तब पड़ा रहने दिया जाता हो। कोई उसकी परवाह न करता हो। यही न मेवाड़ के युवराज का जीवन है! तरुण हृदय की प्यास किससे बुझा करती है, यह ठीक-ठीक नहीं जानता, पर वह केवल रक्त से तो नहीं बुझा करती! आठों पहर प्राणों में कुछ अभाव-सा, कुछ सूनापन-सा अनुभव करता हूँ, पर किससे कहूँ? किसी की दुख-सुख की सुनने को किसके पास समय है? लोग समझते हैं सुखी है। इसे क्या अभाव है! सचमुच है भी क्या अभाव? 'निकम्मा', 'कायर', 'विलासी', 'पागल'—कैसे-कैसे सुन्दर विशेषण मिल चुके हैं? और चाह ही क्या सकता हूँ?

(सामंत का प्रवेश)

सामंत—क्या सोच रहे हो कुमार?

अमर—कुछ नहीं; यही कि विधाता से थोड़ी भूल हो गई है!

सामंत—क्या?

अमर—उसे मुझे मनुष्य न बनाकर तलवार बनाना था!

सामंत—क्यों?

अमर—उस दशा में मैं आप लोगों के कुछ काम आ सकता !

सामन्त—अपने को इतना अपदार्थ समझना मेवाड़ के युवराज-को शोभा नहीं देता !

अमर—अपदार्थ ही समझ पाता, तो संतोष होता सामंत जी ! अभी तक तो अपने को कुछ भी नहीं समझ पाया हूँ। जीवन-के क्षीण संगीत के आस-पास खड्गों की झंकार और मारू के निनाद का इतना कोलाहल भर गया है कि कुछ भी नहीं समझ पड़ता !

सामंत—आपका हृदय आजकल इतना चंचल क्यों हो उठा है कुमार ?

अमर—चंचल ! मेरा हृदय नहीं, यह संसार ही आजकल चंचल हो गया है ! बंधन, जड़ता और निर्जीवता की ओर देखते समय इसकी दृष्टि हिल जाती है !

सामन्त—मैं आपकी बातें ठीक-ठीक नहीं समझ रहा हूँ युवराज !

अमर—कभी-कभी मैं भी स्वयं नहीं समझ पाता हूँ सामंतजी !

सामंत—मैं आपको सुसंवाद सुनाने आया था कुमार ! राणा का प्रायश्चित्त पूर्ण हुआ चाहता है । धीरे-धीरे वर्षों की साधना के बाद उन्होंने लगभग समस्त मेवाड़ को स्वाधीन करा लिया है । अभी-अभी उन्होंने एक नवीन प्रदेश मुक्त कराया है । मुग़लों ने उस युद्ध-में बुरी तरह हार खाई है ।

अमर—संवाद तो अच्छा है । इससे संसार के रक्त-पात के इतिहास का एक पृष्ठ और भरा जा सकेगा ! अभी कितने पृष्ठ और शेष हैं सामंतजी !

सामंत—युवराज की आँखें स्वाधीनता का क्या यही मूल्य आँकती हैं ?

अमर—स्वाधीनता ! सुन्दर शब्द है ! पर मुझे इसके अर्थ का अनुभव, सार्थकता का साक्षात् कराने की किसी ने कभी आवश्यकता ही नहीं समझी। मैं बंधन में पला हूँ—केवल कठोर संयम में रुद्ध श्वास लेता रहा हूँ। मैं नहीं समझता स्वाधीनता में क्या आकर्षण है, क्यों लोग इसके नाम पर इतना रक्त-पात किया करते हैं। 'आज मेवाड़ी जीते', 'कल मुग़ल हारे'—इस हार जीत के संवाद से अधिक मेरे कानों ने बहुत कम सुना है, हृदय ने बहुत कम समझा है।

सामंत—तुम पागल हो गए हो क्या युवराज ? ये तुम्हारे सुदृढ़ बाहु, वज्र का-सा शरीर, क्या देश-हित में नहीं लगना चाहिए ?

अमर—देशहित में ! कैसा बढ़िया देशहित हो रहा है आज-कल ! चारों ओर अशांति, मार-काट, रक्त-पात, घर-के-घर उजाड़ डालना, बच्चों को अनाथ और स्त्रियों को विधवा बना देना ! कैसा सुन्दर देशोपकार कर रहे हैं आप लोग ! शायद अभी तृप्ति नहीं हुई ? मुझसे भी यही कराना चाहते हैं ? अच्छा ! चेष्टा करनी ही होगी ! इस वज्र-जैसे शरीर में जो फूल-जैसा हृदय अड़ा बैठा है, उसे धीरे-धीरे कुचलकर फिर इस हत्याकांड में जुट ही पड़ना होगा ! और कोई मार्ग ही नहीं ! विवश हूँ। मेवाड़ का युवराज जो हूँ।

(प्रस्थान।)

सामंत—पागल कहीं का ! नियमों को ग़ुलामी और विलासिता-को स्वाधीनता मान बैठा है। स्वाधीनता के महायज्ञ को रक्त-पात

कहता है। चित्र की केवल एक दिशा देख रहा है। भावुकता का यह अतिरेक बड़ा चिंताजनक होता है। (प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन।)

आठवाँ दृश्य

स्थान—राणा का निवासस्थान।

[भीलराज का प्रवेश।]

भीलराज—द्वारपाल ! द्वारपाल !! अरे कोई है ?

द्वारपाल—(नेपथ्य से) आया पृथ्वीनाथ ! (द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल--क्या आज्ञा है ?

भील०---ऐसे समय भी तुम अपने स्थान पर नहीं रहते ! जानते नहीं हो, राणा की अवस्था अच्छी नहीं है। जाओ, जल्द युवराज-को ढूँढ लाओ। कई दिनों से उनका पता नहीं है। राणा उन्हें याद करते हैं। (द्वारपाल का एक ओर जाने लगना, दूसरी ओर से अमर-सिंह का आना)

भील०—रहने दो द्वारपाल, ये युवराज इधर ही आ रहे हैं। (द्वारपाल रुककर दूसरी ओर जाता है।)

अमर—क्या है ? यह कैसा कोलाहल है ? जानता हूँ, सैनिक हो ! पर, यह रणभूमि नहीं है। सभ्य पुरुषों के रहने का स्थान है !

भील०—राणा की अवस्था अच्छी नहीं हैं युवराज ! वह कई दिनों से आपको याद कर रहे हैं, अन्तिम युद्ध में उन्होंने जो घाव खाए हैं, वे उन्हें पीड़ा पहुँचा रहे हैं। (प्रस्थान।)

अमर—लक्षण अच्छे नहीं जान पड़ते। इस अवस्था में इतने युद्ध करना, इतनी चिंता करना, पूरा खाना न खाना, पूरी नींद न सोना भी तो बुरा होता है! अकेला चित्तौड़ रह गया, रह जाने दें, उसमें अब बचा ही क्या है? पर सुनता कौन है? मुट्ठी-भर खँडहरों-के लिए यह कैसी खटपट! (प्रस्थान।)

(पट-परिवर्तन।)

———

नवाँ दृश्य

स्थान—राणा का परिचर्या कक्ष।

[राणा मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। पास ही सामंत, भीलराज तथा सभासदगण]

प्रताप—दीपशिखा देखी है सामंत? बुझने के पहले वह एक बार बड़े वेग से जल उठती है और फिर उसी क्षण सदा के लिए बुझ जाती है! वह अपने जीवन के बचे-खुचे स्नेह का—सर्वस्व-का—बलिदान कर अंतिम समय आत्मा को एक ही बार व्यक्त कर देती है। बुझने के पहले कुछ संदेश दे जाती है। यह उसकी जीवन-भर की साधना का साफल्य है। न-जाने क्यों आज मेरी भी छाती फटी जा रही है। हृदय एक बहुत बड़ा भार उतार देने को विकल हो रहा है। इच्छा होती है, जीवन का समस्त स्वर एकत्र कर, एक ही शब्द में, एक ही बार में, कुछ कह दिया जाय और फिर उसी क्षण प्राण छोड़ दिए जायँ।

सामंत—वैद्यजी ने शांतिपूर्वक विश्राम करने को कहा है राणा ! यह उत्तेजना हानिकर होगी ?

प्रताप—हानि ! मरते समय मैं हानि-लाभ में भेद कैसे करूँ सामंत ? गिनती करने में बड़ी वेदना होती है । हानि तो इस जीवन की अमर कहानी बन गई है । और लाभ ? वह अंत तक एक सुंदर स्वप्न ही बना रहेगा ! मैंने क्या-क्या नहीं खोया भाई ? और पाया क्या ?—कुछ नहीं ! जीवन में अधिक कुछ चाहा भी तो न था !—केवल एक चीज़ !—वह भी नहीं मिली ! सारा जीवन यों ही बीत गया ! ओह बड़ी वेदना होती है । क्या कहते हो ? 'उत्तेजना', 'आवेग' ! इनसे भय क्यों ? ये तो जीवन के कोमल-से-कोमल क्षणों में साथी रहे हैं ?

सामंत—आप अमर को देखना चाहते थे न ! वह न-जाने अभी तक क्यों नहीं आए ? क्या फिर उन्हें खोजने को दूत भेजूँ ?

प्रताप—अमर ! मैं भूल चला था, तुम फिर याद दिला रहे हो, अनर्थ कर रहे हो सामंत ! तुम नहीं जानते, उसकी स्मृति के साथ क्या-क्या जुड़ा हुआ है !—मेवाड़ का अंधकारपूर्ण भविष्य—स्वदेश के गौरव का सर्वनाश ! मैं देख रहा हूँ, उसके विचार धीरे-धीरे अस्थिर शांति की ओर मुड़ रहे हैं। मैं चाहता था स्थिर शांति—अमर शांति ! क्या वह संधियों से संभव है ? कदापि नहीं ! उसके लिए अभी वर्षों तक युद्ध की आवश्यकता है—घनघोर साधना की अपेक्षा है ! सच कहता हूँ सामंत, मुझे आज समूचे भारतवर्ष का भविष्य बड़ा संकटमय जान पड़ता है । उसकी संतान की नस-नस-

में धीरे-धीरे एक विष, एक माया, एक प्रलोभन, एक जादू प्रवेश कर रहा है। आह ! हम उसे देख नहीं पाते !

सामंत०—आपका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है राणा ! आप इतने विकल न हों। मुझे भय है कहीं······

प्रताप—हाँ-हाँ, कहो, रुक क्यों गए ? "कहीं प्राण न निकल जायँ ?" हः हः, इन प्राणों पर तुम्हारी इतनी ममता व्यर्थ है सामंत! इस जीवन की अब कोई सार्थकता नहीं—इन प्राणों का कोई उपयोग नहीं। केवल एक लंबा-चौड़ा, सूखा और सूना वालुका-प्रदेश हृदय-में ज्वालामयी हिलोरें लेता-सा प्रतीत होता है ! कोई आशा नहीं ! कोई भरोसा नहीं !

सामन्त—इतने निराश न हों राणा ! मेवाड़ी वीर अब भी आपकी हुंकार पर प्रलय मचा दे सकते हैं। एक बार उनकी अंतिम रक्त-बूँदों के उल्लास की परीक्षा कर देखिए ! कल ही, सत्य कहता हूँ, कल ही, यदि आप स्वस्थ हो जायँ, तो हम लोग प्राणों पर खेलकर चित्तौड़ का उद्धार कर लें।

प्रताप—अब समय नहीं है भाई ! जीवन की अंतिम घड़ियाँ इतनी समीप होती जा रही हैं कि बीच की कोई वस्तु नज़र नहीं आती; हाँ आगे की आशा कर सकता हूँ। प्राणों के समस्त स्वर को एकत्र करके मरने के पूर्व एक बार अपनी प्यारी कामना प्रकट कर सकता हूँ। मैं क्या चाहता हूँ, जानते हो सामंत ? मैं चाहता हूँ कि इस पीड़ित भारत वसुंधरा पर कभी कोई ऐसा माई का लाल पैदा हो, जिसके हृदय-रक्त की अन्तिम बूँदें इसके स्वाधीनता-यज्ञ में पूर्णाहुति दें, इसे सदा के लिए स्वाधीन कर दें; जिसके इंगित पर, बरसों के

बिछुड़े हुए कोटि-कोटि भारतीय एक सूत्र में बँधकर सर्वस्वबलिदान करने मातृ-मंदिर की ओर दौड़ पड़ें। मेरी प्रतिज्ञा तो अधूरी रह गई सामंत! हृदय में अतृप्ति की एक आग छिपाए जा रहा हूँ! उफ़्!

(अन्त।)

सामंत—राणा! यह क्या? हा दुर्दैव, सब समाप्त हो गया!

(अमरसिंह का प्रवेश।)

अमर—हाय, पिताजी, यह न सोचा था!

सामंत—अभागे हो अमर! अब आए हो!!

[पटाक्षेप।]

———